गंगा-पुस्तकमाला का छियालीसवाँ पुष्प

भारतीय अर्थ-शास्त्र

[भारतवर्षीय अर्थ-शास्त्र-परिषद् द्वारा स्वीकृत
और संशोधित]

(प्रथम भाग)

लेखक

भगवानदास केला

प्रेम-महाविद्यालय (वृंदावन) के अर्थ-शास्त्र-अध्यापक

प्रकाशक

गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय

२९-३०, अमीनाबाद-पार्क

लखनऊ

प्रथमावृत्ति

रेशमी जिल्द २)] सं० १९८२ वि० [सादी १॥)

प्रकाशक
श्रीछोटेलाल भार्गव बी० एस्-सी०, एल्-एल्० बी०
गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

मुद्रक
श्रीकेसरीदास सेठ
नवलकिशोर-प्रेस
लखनऊ

श्री आनंद भिक्षुजी

समर्पण

माननीय श्रीयुत श्रीआनंदभिक्षुजी
ऑनरेरी जेनरल मैनेजर
प्रेम-महाविद्यालय, वृंदावन

महोदय,

गतवैभव भारत के उत्थान के लिये स्वार्थत्यागी सेवकों की बड़ी आवश्यकता है। यदि आश्रम-धर्म का उचित पालन हो, तो वाणप्रस्थ सज्जन यथेष्ट संख्या में मिल सकें, और उनसे देश का बड़ा हित हो, परंतु वाणप्रस्थ-आश्रम को लोग मानो भूल ही गए हैं। हर्ष की बात है, आपने केवल ३९ वर्ष की आयु में इसे ग्रहण करके इस महान् प्रथा की याद दिलाई है। आप तीन वर्ष स्थानीय गुरुकुल में सहायक मुख्य-अधिष्ठाता रहकर महत्त्व-पूर्ण अवैतनिक सेवा कर चुके हैं। अब आप चार वर्ष से इस निश्शुल्क औद्योगिक और राष्ट्रीय संस्था का संचालन कर रहे हैं। आपके सदुद्योग से प्रेम-महाविद्यालय की पाठ-विधि संशोधित हुई, और यहाँ दो और आवश्यक विषय—नागरिक धर्म और अर्थ-शास्त्र—पढ़ाए जाने लगे।

आपने मुझे अपने सत्संग से बहुत कृतार्थ किया है। मैं किसी प्रकार आपसे उऋण नहीं हो सकता। आप भारतवर्ष के लिये

आनंद के भिक्षु हैं। अर्थ-प्रधान जगत् में आर्थिक विषयों की सम्यक् विवेचना बिना आनंद कहाँ? इसलिये आपने मुझसे इस पुस्तक की रचना का अनुरोध किया। जैसी बन सकी, तैयार है। इस क्षुद्र भेंट को स्वीकार करने की कृपा कीजिए। परमात्मा करे, आपकी भावना के अनुसार देश में इस विषय के ज्ञान की वृद्धि और प्रचार हो।

विनीत
लेखक

संपादकीय वक्तव्य

यह आर्थिक युग है। आजकल संसार में सभी देशों की, सभी प्रकार की, उन्नति उनकी आर्थिक अवस्था पर ही अवलंबित रहती है। योरप, अमेरिका और जापान की सर्वतोमुखी प्रगति का प्रधान कारण है उन देशों के निवासियों की अथाह समृद्धि। उसे उन्होंने अपने अर्थ-शास्त्र-संबंधी ज्ञान द्वारा प्राप्त किया है। यह ज्ञान सर्वसाधारण को सुलभ करने के लिये उन्होंने अर्थ-शास्त्र के साहित्य की उन्नति, वृद्धि और प्रचार में अनवरत परिश्रम किया है और कर रहे हैं, एवं इसमें वे पूर्ण रूप से कृतकार्य भी हुए हैं। यही उनकी आर्थिक सफलता का रहस्य है।

उधर का तो यह हाल है, इधर भारतवर्ष को देखिए। यहाँ सर्वसाधारण की तो बात ही जाने दीजिए, अधिकांश पढ़े-लिखे लोग भी अर्थ-शास्त्र के ज्ञान से कोरे हैं। यही कारण है कि भारत की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं। करोड़ों भारतवासियों को, भारी परिश्रम करने पर भी, भरपेट भोजन नहीं प्राप्त होता। देश में कच्चा माल प्रचुर परिमाण में प्राप्य है, परंतु, तो भी तैयार माल के लिये हमें अन्य देशों का मुँह ताकना पड़ता है, उन पर निर्भर रहना पड़ता है। यहाँ के अधिकांश बड़े-बड़े उद्योग-धंधे विदेशियों के हाथ में हैं। उनसे हमें कोई विशेष लाभ नहीं होता। अतएव स्वदेश को समृद्धिशाली बनाने के लिये—उसको उन्नति के उत्तुंग शिखर पर चढ़ाने के लिये—हम सबका यह प्रधान कर्तव्य होना चाहिए कि अर्थ-शास्त्र के ज्ञान का सर्वसाधारण के बीच प्रचुर प्रचार करने में कोई बात उठा न रक्खें। इसके लिये यह अत्यंत आवश्यक

है कि अपने अर्थ-शास्त्र-संबंधी साहित्य को सर्वांग-संपन्न बनाया जाय—उसके हरएक हिस्से की, ख़ासकर भारतीय अर्थ-शास्त्र की, भरसक ख़ूब तरक़्क़ी की जाय।

खेद है कि राष्ट्रभाषा हिंदी में अब भी अर्थ-शास्त्र-संबंधी पुस्तकों का भारी अभाव है। दस-पाँच पुस्तकों से ही उसका यह अंग संपन्न नहीं समझा जा सकता। इस कमी के दो कारण हैं—(१) धनी और प्रसिद्ध प्रकाशकों की इस ओर से उदासीनता, और (२) इस विषय पर अधिकार-पूर्वक लिख सकने की क्षमता रखनेवाले लेखकों की कमी। हर्ष की बात है कि साहित्य-सेवा को अपना मुख्य उद्देश्य मानकर काम करनेवाले कुछ उद्योगशील लेखक और प्रकाशक इस ओर ध्यान देने लगे हैं। इससे आशा होती है कि कुछ ही वर्षों में हिंदी में भी इस विषय पर अच्छी-अच्छी पुस्तकें दिखलाई देने लगेंगी। इन उद्योगशील लेखकों में श्रीयुत भगवानदासजी केला भी हैं। आप वृंदावन के सुप्रसिद्ध प्रेम-महा-विद्यालय में अर्थ-शास्त्र के अध्यापक हैं, और हिंदी के इस अभाव की पूर्ति के लिये प्राण-पण से परिश्रम कर रहे हैं। यह 'भारतीय अर्थ-शास्त्र' आपके इसी उद्योग का फल है। आशा है, आप अपनी प्रतिभा और ज्ञान के उत्तरोत्तर उत्कर्ष और विकास द्वारा अनेक अमूल्य ग्रंथ-रत्नों से हिंदी-साहित्य-भांडार को भरसक भरते रहेंगे। आप-जैसे धुन के पक्के पुत्रों की ही हिंदी-माता को इस समय अत्यंत आवश्यकता है।

इस पुस्तक के संपादन में हमारा ज़रूरत से ज़्यादा वक़्त लगा है। इस काम में हमारे सहृदय सुहृद् दयाशंकरजी दुबे ने दया करके पर्याप्त सहायता पहुँचाई है। पुस्तक के संदिग्ध स्थल निकाल या बदल दिए गए हैं, नवीन अंक और नई बातें बढ़ा दी गई हैं, और अनेक पारिभाषिक शब्द गढ़ने पड़े हैं। भाषा का भी पर्याप्त

परिमार्जन कर दिया गया है। आशा है, गंगा-पुस्तकमाला के प्रेमी पाठकों को यह पुस्तक पसंद आवेगी, और वे इसे अपनाकर हमें कृतकृत्य करेंगे।

दूसरे भाग का भी संपादन हो रहा है। उसे शीघ्र ही प्रकाशित कर देने का प्रबंध और चेष्टा की जा रही है। उसमें विनिमय और व्यापार, वितरण और राजस्व, ये तीन खंड और पारिभाषिक शब्दों की सूची तथा शब्दानुक्रमणिका रहेगी।

गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
(प्रकाशन-विभाग)
लखनऊ, १।४।२९

दुलारेलाल भार्गव
संपादक

लेखक का वक्तव्य

मनुष्य के बहुत-से विचार उसके मन ही में रहकर कुछ समय में ग़ायब हो जाते हैं, कार्य-रूप में परिणत नहीं होने पाते—अनुकूल परिस्थिति के अभाव में अपने लक्ष्य को पूरा करने-योग्य नहीं होते—बीज-रूप में ही रहते हैं, बढ़कर वृक्ष होने और फलने-फूलने का सौभाग्य नहीं पाते। इसलिये यदि कोई विचार देर में भी कार्य-रूप में परिणत हो जाय, तो निर्बल मनुष्य अपने को कृतकृत्य ही मानता है।

सन् १९१७ ई० का आरंभ किया हुआ 'भारतीय अर्थ-शास्त्र' अब सात वर्ष बाद पूरा हुआ। इस कार्य में देर तो बहुत लगी, पर अंत को यह तैयार हो गया, यही संतोष है। इसकी रचना के संबंध की आवश्यक मुख्य-मुख्य घटनाओं का क्रम-बद्ध, परंतु संक्षिप्त, वर्णन आगे किया जाता है। इसमें एक सामान्य साहित्य-प्रेमी के जीवन की थोड़ी-सी झलक होने से यह, और कुछ नहीं तो, विद्वानों और साहित्य-सेवियों के लिये विनोद-सामग्री ही होगा।

एफ़० ए० पास करने के तीन वर्ष बाद, सन् १९१३ में, बी० ए० की पढ़ाई शुरू करने में मेरा एक उद्देश्य राजनीति (इतिहास) और अर्थ-शास्त्र का अध्ययन भी था। उक्त वर्ष के अंत में मैंने 'हमारे पाठ्य-विषय'-शीर्षक एक आलोचनात्मक लेख-माला अलीगढ़ के 'माहेश्वरी' मासिक पत्र में लिखनी शुरू की। सितंबर, सन् १९१४ ई० में, उसी सिलसिले में, 'संपत्ति-शास्त्र' पर एक सविस्तर लेख लिखा। पीछे से यह लेख मेरी 'भारतीय विद्यार्थी-विनोद' पुस्तक में उद्धृत हुआ, और यह पुस्तक भारतीय ग्रंथ-माला की दूसरी पुस्तक बनी।

अर्थ-शास्त्र पर पुस्तक लिखने का विचार सन् १९१७ ई० में हुआ था। आवश्यक पुस्तकें मँगा लीं, और कार्य आरंभ कर दिया। २० जून और ४ जूलाई, सन् १९१७ ई० के 'जयाजी-प्रताप' (ग्वालियर) में मेरा 'भारतीय धन-विज्ञान'-शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ। उस समय मैंने अपनी पुस्तक का यही नाम रखने का विचार किया था। 'धन की उत्पत्ति' लेख 'माहेश्वरी' में शुरू किया गया। उसके बाद भारतीय ग्रंथ-माला की अन्य पुस्तकों की रचना में लगे रहने तथा अन्य व्यक्ति-गत विघ्न-बाधाओं के उपस्थित होने के कारण अर्थ-शास्त्र का मसविदा, पुस्तकें और अन्य सामग्री का बंडल बँधा ही पड़ा रहा। सन् १९२० ई० में प्रेम-महाविद्यालय के मुख-पत्र 'प्रेम' का संपादन करते समय मैंने उसका कुछ थोड़ा-सा उपयोग किया।

सन् १९२१-२२ ई० में, प्रेम-महाविद्यालय में, नागरिक धर्म (Civics) और अर्थ-शास्त्र की शिक्षा बढ़ाई गई। इस कार्य के लिये मुझे 'प्रेम'-विभाग से विद्यालय-विभाग में ले लिया गया। प्रेम-महाविद्यालय के ऑनरेरी जेनरल मैनेजर माननीय श्रीआनंद भिक्षुजी का अनुरोध देख 'मैंने भारतीय अर्थ-शास्त्र' लिखना फिर आरंभ किया।

पहले मैंने सोचा था कि इस पुस्तक में व्यावहारिक विषयों का ही वर्णन हो। सिद्धांतों के लिये पाठक श्रीमहावीरप्रसादजी द्विवेदी तथा अन्य लेखकों की पुस्तकें पढ़ लेंगे। परंतु मारवाड़ी-शिक्षा-मंडल, वर्धा के निष्काम सेवक मंत्री श्रीकृष्णदासजी जाजू बी० ए०, एल्-एल्० बी० ने मेरी उस समय की हस्त-लिखित प्रति देखकर मुझे परामर्श दिया कि पुस्तक में सैद्धांतिक बातों का यथेष्ट समावेश अवश्य रहना चाहिए। श्रीआनंदभिक्षुजी के इसका प्रबल अनुमोदन करने पर मैंने पुस्तक में आवश्यक पाठ्य-सामग्री बढ़ा दी।

सन् १६२३ ई० के आरंभ में भारतीय अर्थशास्त्र-परिषद् की स्थापना हुई। उसकी कार्य-कारिणी-सभा के अधिवेशन में उपस्थित होने के लिये मैं गत मार्च में लखनऊ गया। परिषद् के मंत्री पंडित दयाशंकरजी दुबे एम्० ए०, एल्-एल्० बी० ने कृपापूर्वक पुस्तक की हस्त-लिखित प्रति पढ़ी, और कितनी ही नवीन बातें बढ़ाने का परामर्श दिया। इसके अतिरिक्त आपने कॉलेज-लाइब्रेरी से विविध विषयों की नई-नई रिपोर्टें लाकर मुझसे अनुरोध किया कि पुस्तक में ताज़े-से-ताज़े अंक दिए जायँ। फिर परिषद् की संपादन-समिति ने, जिसमें श्रीदुलारेलालजी और आप हैं, बड़े प्रेम और परिश्रम से इस पुस्तक का संपादन किया।

पुस्तक छपाने की समस्या पहले से ही सामने थी। आजकल प्रायः ऐसी ही पुस्तकें अधिक लिखी और छपाई जाती हैं, जिनमें जोशीली या रोचक बातें हों। इनसे आमदनी अच्छी होती है, लेखक और प्रकाशक, दोनों का भला होता है; परंतु देश की गंभीर साहित्य की आवश्यकता नहीं पूरी होती। इस पुस्तक को मैं भारतीय ग्रंथ-माला में ही छपाना चाहता था। परंतु आर्थिक कठिनाइयाँ बाधक हुईं। धनाभाव के कारण ही भारतीय अर्थ-शास्त्र-परिषद् भी इसे नहीं छपा सकी। अतएव गंगा-पुस्तकमाला के संपादक श्रीदुलारेलालजी भार्गव ने कृपा करके यह भार सँभाला। आपने इस पुस्तक को छपाने से पूर्व इसकी भाषा सुधारने, भाव अधिक स्पष्ट करने और अंकों को जाँचकर ठीक करने में बहुत परिश्रम किया है। आपने संशोधन-कार्य में जो कष्ट उठाया है, उसके लिये मैं आपका बहुत कृतज्ञ हूँ। इस पुस्तक के गंगा-पुस्तकमाला में छपने से मुझे विशेष आनंद यही है कि इसका प्रचार बहुत अच्छा होगा।

हर्ष की बात है कि हमारे भाइयों में स्वदेश-प्रेम बढ़ता जा रहा

है। परंतु उसे अधिकतम उपयोगी बनाने के लिये देश की दशा का अच्छा ज्ञान होना अनिवार्य है, देश के आर्थिक तथा नैतिक विषयों की विवेचना आवश्यक है। ये विषय क़िस्से-कहानियों या उपन्यासों की तरह रोचक अथवा रण-भूमि के वृत्तांतों की तरह उत्तेजक न होने पर भी धार्मिक ग्रंथों की तरह कल्याणकारी हैं। इस समय देश के लिये राजनीतिक स्वाधीनता के साथ यदि आर्थिक स्वावलंबन आवश्यक है, तो अर्थ-शास्त्र के अध्ययन की ओर उपेक्षा का भाव रहना कदापि उचित न होगा। उसे सादर, सहर्ष ग्रहण करना चाहिए।

अर्थ-शास्त्र का आधार वास्तविक परिस्थिति है। अतएव इस विषय की रचना के लिये लेखक को अनेकों पुस्तकों, रिपोर्टों और पत्र-पत्रिकाओं की सहायता लेकर बहुत कुछ संकलन-कार्य करना पड़ता है। इस सामग्री के अनुकूल रहकर ही वह अपनी विचार-स्वतंत्रता प्रकट कर सकता है, उससे पृथक् नहीं। इसलिये ऐसी पुस्तकों में वैसी मौलिकता नहीं मिल सकती, जो उच्च कोटि के कल्पनात्मक या आदर्शवादी साहित्य में होती है। अपनी परिस्थिति के अनुसार मैंने इस पुस्तक को यथाशक्ति अत्युत्तम बनाने का प्रयत्न किया है। इसमें कहाँ तक सफल हुआ हूँ, यह तो मर्मज्ञ पाठक ही जानें; परंतु मुझे आशा है, अपने ढंग की अर्थ-शास्त्र-संबंधी यह पहली ही पुस्तक है। यह विचार करके सहृदय पाठक मेरी त्रुटियों को क्षमा करेंगे।

इस पुस्तक के खंडों के संबंध में मुझे दो बातें विशेष रूप से कहनी हैं। अर्थ-शास्त्र के पाठक जानते हैं कि प्रायः उपभोग (Consumption) के संबंध में अँगरेज़ी पुस्तकों में बहुत कम विचार किया जाता है। परंतु वह विषय है बहुत उपयोगी। अतः मैंने उस पर भी यथेष्ट प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। फिर राजस्व के संबंध

में बहुधा मत-भेद रहा करता है। कुछ लेखक इसे अर्थ-शास्त्र के अंतर्गत ही समझते हैं, और कुछ इस पर स्वतंत्र विचार करते हैं। मैंने इसे इसी पुस्तक में रख लेना चाहा था ; पर वह विषय इतना बढ़ गया कि अंत को उसे 'भारतीय राजस्व' नाम की एक स्वतंत्र पुस्तक के रूप में छपाना उचित समझा इस पुस्तक में मैंन उस विषय की मुख्य-मुख्य बातें देकर ही संतोष किया है। अर्थ-शास्त्र वास्तव में एक महान् विषय है, अथाह समुद्र है । इस पुस्तक के अंतर्गत कई अन्य विषयों पर भी स्वतंत्र ग्रंथ लिखे जा सकते हैं। मैंने तो, जैसा बना, उन विषयों का दिग्दर्शन-मात्र करा दिया है।

साहित्य-प्रेमियों ने मेरी अन्य पुस्तकों को अच्छी तरह अपनाया है। आशा है, वे भारतवर्ष के इस उन्नतिशील युग में, स्वदेश-सेवा के प्रबल भावों के कारण, इसका भी समुचित स्वागत करेंगे, और इस विनीत लेखक को विविध राष्ट्रीय विषयों पर अपने विचार प्रकट करने का अवसर देंगे।

वृंदावन ;
३० मई, १९२३ ई०

भगवानदास केला

सहायक पुस्तकों की सूची

अँगरेज़ी और हिंदी के विविध पत्र और पत्रिकाएँ और सरकारी रिपोर्टें

वी० जी० काले ... Indian Economics (चतुर्थ संस्करण)

सी० डी० टॉमसन ... Economic Lectures (प्रथम और द्वितीय भाग)

दयाशंकर दुबे ... The way to Agricultural Progress

" " भारत में कृषि-सुधार

मूरलैंड ... ... An Introduction to Economics

एच्० एस्० जेवंस ... Money, Banking & Exchange in India

" " " ... The future of Exchange & Indian currency

सरकार ... ... Economics in British India.

महावीरप्रसाद द्विवेदी संपत्ति-शास्त्र

राधाकृष्ण झा ... भारत की सांपत्तिक अवस्था

बालकृष्ण... ... अर्थ-शास्त्र

श्यामविहारी मिश्र और शुकदेवविहारी मिश्र... व्यय

लेखक की लिखी ... भारतीय शासन

" " ... भारतीय जागृति
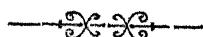
विषय-सूची

प्रथम खंड—विषय-प्रवेश

पहला परिच्छेद—अर्थ-शास्त्र का विषय

दूसरा परिच्छेद—अर्थ-शास्त्र विषय-विभाग

दूसरा खंड—उत्पत्ति

पहला परिच्छेद—भारत-भूमि—भारतवर्ष की प्राकृतिक स्थिति

दूसरा परिच्छेद—भारतीय जनता या श्रम

पाँचवाँ परिच्छेद—खेती और उद्योग-धंधे

तृतीय खंड—उपभोग

पहला परिच्छेद—उपभोग के सिद्धांत

दूसरा परिच्छेद—उपभोग की वस्तुएँ

तीसरा परिच्छेद—उपभोग और रहन-सहन

चौथा परिच्छेद—पारिवारिक आय व्यय

पाँचवाँ परिच्छेद—उपभोग की विवेचना

चतुर्थ-खंड—मुद्रा और बैंक

पुस्तक-सूची

अचलायतन	।=)
अद्भुत आलाप	१), १॥)
अयोध्यासिंह उपाध्याय	≡)
आत्मार्पण	।)
इँगलैंड का इतिहास—	
प्रथम भाग	१॥), २)
द्वितीय भाग	१॥, २)
उद्यान	॥।), १।)
एशिया में प्रभात	॥), १)
कर्बला	१॥), २)
कमला-कुसुम (लगभग)	॥।)
किसानोंकी कामधेनु	।=)
कृष्णकुमारी	॥।), १।)
केशवचंद्र सेन	१)
कौशल-हिंदी-शिक्षक	॥), १)
ख़ाँजहाँ	१), १॥)
गधे की कहानी	१)
चित्रशाला	१॥।), २।)
द्विजेंद्रलाल राय	≡)
दुर्गावती (लगभग)	१)
देव और विहारी	१।), १॥।)
देवी द्रौपदी	॥।)
देश-हितैषी श्रीकृष्ण	=)
नंदन-निकुंज	१), १॥)
नटखट पाँड़े (लगभग)	१)
नारी-उपदेश	॥)
बाल-नीतिकथा (दो भाग)	२॥)
पत्रांजलि	॥)
पराग	॥), १)
पूर्व-भारत	॥।), १।)
प्रायश्चित्त-प्रहसन	।)
प्रेम-प्रसून	१।), १॥।)
प्रेम-गंगा	१।), १॥।)
बहता हुआ फूल	२), २॥)
बिहारी-रत्नाकर (लगभग)	४)
बुद्ध-चरित्र	॥।), १।)
भगिनी-भूषण	=)
भवभूति	॥=), १=)
भारत की विदुषी नारियाँ	॥)
भारत-गीत	॥), १)
भूकंप	१), १॥)
मध्यम व्यायोग (लगभग)	=)
मनोविज्ञान	॥।), १।)
महिला-मोद (लगभग)	॥।)
मूर्ख-मंडली	॥), १)
मंजरी	१)
रंगभूमि (दो भाग)	४), ६)
रावबहादुर	॥।), १।)
हिंदी	॥=), १=)
हिंदी-नवरत्न	४॥), ५)

[जो पुस्तकें न मँगानी हों, उनके नाम कृपया काट दीजिए.]

आदेश-पत्र

सेवा में—

संचालक गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय

२९-३०, अमीनाबाद-पार्क, लखनऊ

प्रिय महाशय,

मैंने गंगा-पुस्तकमाला के नियम पढ़ लिए हैं। कृपया मेरा नाम उसके स्थायी ग्राहकों में लिख लीजिए, और पीछे-लिखी पुस्तकें वी० पी० भेजकर अनुगृहीत कीजिए। प्रवेश-शुल्क के ॥) भी उसी में वसूल कर लीजिएगा। मैं अपने इष्ट-मित्रों को भी माला का ग्राहक बनाऊँगा।

भवदीय—

[हस्ताक्षर कीजिए]

मेरा पता—

[कृपया उपाधि-सहित अपना नाम और पूरा पता साफ़-साफ़ लिखिए]

प्रथम खंड

पहला परिच्छेद

अर्थ-शास्त्र का विषय

अर्थ-शास्त्र—अर्थ-शास्त्र (Economics) वह विद्या है, जो समाज में रहनेवाले मनुष्यों के आर्थिक अर्थात् धन-संबंधी प्रयत्नों और सिद्धांतों का विवेचन करती है।

मनुष्य अपने भौतिक सुख के लिये भोजन और वस्त्र-संबंधी तथा अन्य पदार्थ उत्पन्न करके उनका उपभोग करते हैं। बहुधा एक आदमी को दूसरे की बनाई वस्तु की आवश्यकता होती है, और वह उसके बदले में अपनी वस्तु या उसकी क़ीमत देता है। अनेक चीज़ें ऐसी हैं, जिनकी उत्पत्ति में दूसरे आदमियों से अथवा उनके साधनों से सहायता ली जाती है, उन्हें उनका प्रतिफल देना होता है। ये सब आर्थिक या धन-संबंधी प्रयत्न हैं।

इन प्रयत्नों की आलोचना करता हुआ अर्थ-शास्त्र देशों की आर्थिक स्थिति, उन्नति या अवनति का विचार करता है।

इस शास्त्र को अर्थ-शास्त्र के अतिरिक्त संपत्ति-शास्त्र, धन-शास्त्र, धन-विज्ञान, धन की विद्या आदि भी कहते हैं।

अर्थ या धन—अर्थ-शास्त्र में अर्थ या धन केवल रुपए-पैसे आदि सिक्कों या सोने-चाँदी आदि धातुओं को ही नहीं कहते, वरन् इसके अंतर्गत वे सब पदार्थ समझे जाते हैं, जिनसे मनुष्य की किसी प्रकार की कोई आवश्यकता पूरी हो सकती हो, एवं जिनको देकर बदले में दूसरी उपयोगी वस्तुएँ मिल सकती हों। इस प्रकार अन्न, कोयला, लोहा, लकड़ी आदि चीज़ें भी धन हैं। संक्षेप में

समस्त परिवर्तनशील या विनिमय-साध्य और उपयोगी चीज़ें धन हैं। हवा और रोशनी आदि उपयोगी हैं, परंतु अपरिमित मात्रा में होने के कारण, वे विशेष दशाओं के अतिरिक्त, परिवर्तनशील नहीं होतीं, इसलिये वे साधारणतया धन नहीं मानी जा सकतीं। इससे मालूम हुआ कि किसी चीज़ का, धन होने के लिये, कम परिमाण में होना आवश्यक है।

अर्थ-शास्त्र एक सामाजिक विद्या है—सामाजिक विद्या (Social Science) उस विद्या को कहते हैं, जो सामाजिक मनुष्यों के किसी प्रकार के पारस्परिक संबंधों का वर्णन और विवेचन करती हो। सामाजिक मनुष्यों से अभिप्राय ऐसे मनुष्यों से है, जो एक दूसरे के साथ मिलकर या निकट रहते हैं, और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आपस में विविध प्रकार के संबंध रखते हैं। पृथक्-पृथक् वनों में या पर्वतों पर रहनेवाले साधु, संन्यासी या इधर-उधर अलग-अलग घूमते रहनेवाले असभ्य मनुष्य सामाजिक नहीं कहला सकते। केवल किसी देश के एक नगर या ग्राम के रहनेवाले मनुष्य ही सामाजिक मनुष्यों की गणना में आते हैं। अर्थ-शास्त्र ऐसे ही सामाजिक मनुष्यों के आर्थिक संबंधों का वर्णन करता है, इसलिये यह एक सामाजिक विद्या है अथवा समाज-शास्त्र का एक भाग है।

अर्थ-शास्त्र के नियमों का व्यवहार—समाज में सभी मनुष्यों का स्वभाव, आचार, व्यवहार एक-सा नहीं होता, इसलिये अर्थ-शास्त्र के सब नियम सभी आदमियों के लिये लागू नहीं हो सकते। वास्तव में अर्थ-शास्त्र उन्हीं आर्थिक नियमों का विचार करता है, जो अधिकांश जनता के लिये व्यवहृत किए जा सकते हैं।

इस शास्त्र के और भौतिक विज्ञान आदि शास्त्रों के नियमों में भेद है। भौतिक विज्ञान के नियमों की परीक्षा अल्प काल में,

और सहज ही, हो सकती है। एक विद्यान्वेषी भौतिक पदार्थों के संबंध में कोई जाँच करने के लिये भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ पैदा करके अपना ज्ञान बढ़ा सकता है। परंतु अर्थ-शास्त्र के विद्यार्थी को ये सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं। उसके अध्ययन का विषय है मनुष्य-समाज के आर्थिक व्यवहार, और इसके लिये हर समय यथेष्ट साधन और विविध परिस्थितियाँ नहीं मिल सकतीं। अतः उसे समाज के आर्थिक इतिहास का विचार करके कुछ अनुमान करना होता है। धीरे-धीरे विविध परिस्थितियों के गुज़रने पर उसकी जाँच होती है, और कुछ नियम निश्चित होते हैं।

अन्य शास्त्रों की अपेक्षा अर्थ-शास्त्र के विषय का विवेचन थोड़े ही समय से होने लगा है। समाज के आर्थिक व्यवहारों के संबंध में जैसे-जैसे विद्वानों का ज्ञान और अनुभव बढ़ेगा, यह शास्त्र अधिकाधिक पूर्ण होता जायगा।

राष्ट्रीय अर्थ-शास्त्र—अर्थ-शास्त्र का आधार मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार हैं। इन व्यवहारों में, देश के प्राकृतिक, सामाजिक या राजनीतिक परिवर्तन के कारण, अंतर पड़ता रहता है। इसलिये अर्थ-शास्त्र के सिद्धांतों के प्रयोग में भेद उपस्थित हो जाता है।

दृष्टांत के लिये इँगलैंड की ही स्थिति अवलोकन कीजिए। बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में वह कृषि-प्रधान देश था, मुद्रा का प्रयोग कम होने से पदार्थों का क्रय-विक्रय न होकर उनका अदला-बदला ही होता था तथा वहाँ कुछ दासत्व या अर्ध-दासत्व की प्रथा से मेहनत-मज़दूरी का काम लिया जाता था। पश्चात् वहाँ दस्तकारी बढ़ने लगी, मुद्रा का चलन हुआ और व्यापार व व्यवसाय की समितियाँ बन गईं। यह स्थिति अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक रही। उत्तरार्ध में पुनः विशेष आर्थिक परिवर्तन हुए;

व्यावसायिक उत्क्रांति हुई, धन की उत्पत्ति का क्रम बदल चला, दस्तकारी का स्थान कला-कौशल ने ग्रहण किया और यंत्रों के नवीन-नवीन आविष्कारों से देश की उत्पादक-शक्ति कई गुना बढ़ गई। पूँजीपतियों (Capitalists) तथा श्रम-विभाग के नए दल बन गए, नवीन समस्याएँ उपस्थित हो गईं; इसलिये अब वहाँ पहले के अर्थ-शास्त्र-संबंधी व्यावहारिक नियमों का प्रयोग नहीं हो सकता।

पुनः एक ही समय में दो देशों की स्थिति भी समान नहीं होती। उदाहरण के लिये अब बीसवीं शताब्दी में इँगलैंड और भारत की तुलना करते हैं। इँगलैंड विज्ञान से भली भाँति भूषित तथा कला-कौशल-प्रधान देश है। वहाँ के निवासी तनिक-से मानसिक परिश्रम और बुद्धि-बल से अनेक निर्मूल्य पदार्थों को अमूल्य बना सकते और बना रहे हैं, वहाँ साधारण-शिक्षा तथा उद्योग-शिक्षा के लिये यथेष्ट प्रबंध है, और प्रत्येक व्यक्ति की दैनिक आय का औसत युद्ध के पहले १$\frac{1}{2}$ रुपया था, और अब तो बहुत बढ़ गया है। इसके विरुद्ध भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है। कभी-कभी वर्षा निर्दिष्ट समय तथा उचित मात्रा में न होने के कारण, अथवा किसी वर्ष यहाँ से विदेशों में अमित खाद्य पदार्थों के चले जाने से, ७० फ़ी-सदी मनुष्यों को जीवन-संग्राम की कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। विज्ञान का यहाँ श्रीगणेश-मात्र ही हुआ है। औद्योगिक शिक्षा के समयोचित प्रबंध का तो ज़िक्र ही क्या, जब साधारण-शिक्षा का प्रचार ही सौ स्त्री-पुरुषों में से केवल सात में हो और यहाँ के प्रत्येक मनुष्य की दैनिक आय, महाशय काले के अनुसार, छः पैसे से अधिक न हो। ऐसी अनमेल स्थिति में व्यापार और उद्योग आदि-संबंधी अर्थ-शास्त्र के जो व्यावहारिक नियम इँगलैंड के लिये हितकर होंगे उनका भारत के लिये भी हितकर होना आवश्यक नहीं।

मतलब यह कि सब देशों की स्थिति किसी एक समय में अथवा किसी एक देश की स्थिति सब कालों में समान नहीं रहती। अतः प्रत्येक देश के लिये उसकी तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार अर्थ-शास्त्र के नियमों का प्रयोग पृथक्-पृथक् होना चाहिए। इस प्रकार के व्यावहारिक अर्थ-शास्त्र को किसी देश के उस समय का राष्ट्रीय अर्थ-शास्त्र कहते हैं।

भारतीय अर्थ-शास्त्र—भारत-भूमि, भारतीय समाज और भारतवर्ष की वर्तमान शासन-प्रणाली को लक्ष्य में रखकर इस देश की आधुनिक स्थिति के अनुकूल व्यावहारिक नियमों और सिद्धांतों की दृष्टि से निर्माण किया हुआ अर्थ-शास्त्र भारतीय अर्थ-शास्त्र (Indian Economics) कहलाता है। इसमें इस देश के धन का विचार होगा। (१) धन की उत्पत्ति (Production), (२) उसका उपभोग (Consumption), (३) मुद्रा और बैंक (Currency and Banking), (४) धन का क्रय-विक्रय या विनिमय (Exchange), (५) उसका वितरण (Distribution)—इन विषयों के अंतर्गत विविध बातों का उल्लेख होगा, एवं (६) देश की राजस्व (Finance)-संबंधी स्थिति पर प्रकाश डाला जायगा।

निस्संदेह भारतवर्ष के आर्थिक प्रश्नों पर भली भाँति विचार करने के लिये इसके भिन्न-भिन्न भागों की आर्थिक परिस्थिति तथा भिन्न-भिन्न समस्याओं की सूक्ष्म जाँच करने की बड़ी आवश्यकता है। इस समय इस पुस्तक में कुछ मूल प्रश्नों या स्थूल बातों की साधारण विवेचना की जा सकती है।

दूसरा परिच्छेद

अर्थ-शास्त्र-विषय-विभाग

उत्पत्ति—यह पहले कहा जा चुका है कि अर्थ-शास्त्र में देश के अर्थ या धन की उत्पत्ति, उपभोग, विनिमय और वितरण का विवेचन होता है। अब हम यह बतलाते हैं कि इन विविध विभागों का अर्थ-शास्त्र में यथार्थ अभिप्राय क्या है। पहले उत्पत्ति को ही लीजिए।

विविध प्रकार की उपयोगिता का पैदा करना या बढ़ाना उत्पत्ति कहा जाता है। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा।

एक दर्ज़ी कोट सी रहा है। वह कपड़े को थान में से काट-काटकर उसे ऐसे स्वरूप में बदल रहा है कि पहननेवाले के लिये अधिक उपयोगी हो जाय। जुलाहे का काम देखो, वह सूत को ऐसे रूप में बदल रहा है कि दर्ज़ी के लिये उसकी उपयोगिता बढ़ जाय। इसी तरह कातनेवाले के काम को लो, उसने कपास को ऐसे रूप में बदल दिया है कि वह जुलाहे के लिये अधिक उपयोगी है।

परंतु क्या कपास की खेती करनेवाले ने कुछ नई चीज़ पैदा नहीं की? विचार करके देखा जाय, तो उसने उसके बीज को खेत में इस तरह रक्खा, और उसे खाद, पानी आदि इस प्रकार दिया कि वह बीज उनके तथा हवा के अंशों को लेकर ऐसे रूप में बदल गया कि एक पहले से अधिक उपयोगी वस्तु बन गई।

इसी तरह भेड़ का ऊन भी कोई नई चीज़ नहीं है। यह उपयोगी ऊन उस ख़ुराक से बना है, जो भेड़ ने खाई है, और यह ख़ुराक उसी प्रकार मिट्टी, पानी और हवा से बनी है, जैसे कपास बनी थी।

उत्पत्ति और उपयोगिता—इस प्रकार वास्तव में मनुष्य कोई

नवीन भौतिक पदार्थ उत्पन्न नहीं कर सकता, वह केवल उपयोगिता पैदा करता या बढ़ाता है। इसी को हम साधारण बोल-चाल में उत्पादन-कार्य कहा करते हैं।

क्या व्यापारी का कार्य उत्पादक है? इसकी भी हमें उपयोगिता की दृष्टि से ही जाँच करनी चाहिए। व्यापारी विविध वस्तुओं को ऐसे स्थान पर पहुँचाते हैं, जहाँ वे, पहले की अपेक्षा, अधिक आवश्यक अथवा अधिक उपयोगी हो जाती हैं। उदाहरणार्थ, कोयले की खान पर पड़े हुए कोयले को किसी कारख़ाने में पहुँचा देने से उसकी उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है।

बहुधा एक अधिकारी के पास से दूसरे अधिकारी के पास पहुँचने से भी चीज़ों की उपयोगिता में अंतर आ जाता है। जिस आदमी के पास एक हज़ार मन अन्न भरा हुआ है, उसके लिये वह इतना उपयोगी नहीं है, जितना वह छोटे-छोटे सौदागरों के पास जाकर हो जाता है। सामान्य गृहस्थों के लिये अन्न की उपयोगिता और भी अधिक हो जाती है। अतः किसी चीज़ को बड़े-बड़े व्यापारियों से लेकर साधारण श्रेणी के ख़र्च करनेवालों के पास पहुँचाने का कार्य भी उसकी उपयोगिता की वृद्धि करना है।

बहुत-सी चीज़ें ऐसी हैं, जो एक समय विशेष आवश्यक नहीं होतीं, लेकिन दूसरे समय उनकी बहुत माँग होती है। अपनी-अपनी ऋतु में बहुत-सी घास, जड़ी-बूटियाँ स्वयं बड़ी मात्रा में पैदा हो जाती हैं। जिस समय उनकी पैदा होने की ऋतु न हो, उस समय तक उन्हें संग्रह करके रखने से उनकी उपयोगिता बढ़ती है।

इस तरह विविध प्रकार की उपयोगिता का पैदा करना या बढ़ाना अर्थ-शास्त्र में 'उत्पत्ति' कहा जाता है।

उत्पत्ति के साधन—प्राचीन अर्थ-शास्त्रियों ने भूमि, श्रम और पूँजी, ये तीन ही उत्पत्ति के साधन माने थे। आधुनिक मत

से इन साधनों में व्यवस्था अर्थात् प्रबंध और साहस की भी गणना की जाती है।

एक उदाहरण लेते हैं। कल्पना कीजिए, अन्न उत्पन्न करना है। खेती के लिये भूमि की आवश्यकता होगी, किसान को हल चलाने और पानी देने आदि में मेहनत करनी होगी, साथ ही उसे बीज, हल, बैल आदि ऐसी चीज़ों की भी आवश्यकता होगी, जिन्हें हम उसकी पूँजी कह सकते हैं। इन सब साधनों की उचित व्यवस्था से कुछ समय में अन्न की उत्पत्ति होगी।

इस प्रकार उत्पत्ति के तीन साधन स्पष्ट हुए—भूमि, श्रम और पूँजी। व्यवस्था को पहले पृथक् स्थान नहीं दिया जाता था। लेकिन अब कल-कारख़ानों में बहुत-से एकत्रित आदमियों और बड़ी-बड़ी पूँजी से उत्पत्ति का काम होता है। इससे प्रबंध या निरीक्षण की आवश्यकता बढ़ गई है। साथ ही कार्य बड़ा होने के कारण उसके संचालन की ज़िम्मेदारी या जोख़म अथवा साहस भी बहुत होता है। इस प्रकार व्यवस्था का महत्त्व और अधिक बढ़ गया है। व्यवस्था में प्रबंध और साहस दोनों सम्मिलित समझे जाते हैं।

इस प्रकार उत्पत्ति के ये साधन हुए— (१) भूमि, (२) श्रम, (३) पूँजी, (४) व्यवस्था, अर्थात् प्रबंध और साहस। उत्पत्ति का इतना विचार करके अब हम अर्थ-शास्त्र के दूसरे विभाग 'उपभोग' को स्पष्ट करते हैं।

उपभोग—हम बहुधा कहते और सुनते रहते हैं कि अमुक आदमी ने वह चीज़ ख़र्च कर ली या अमुक पदार्थ नष्ट हो गया। परंतु, जैसा कि पहले कहा गया है, विचार-पूर्वक देखा जाय, तो न तो मनुष्य कोई नवीन पदार्थ उत्पन्न कर सकता है, और न किसी का नाश ही हो सकता है। हमारी सब क्रियाओं का रहस्य यही है कि या तो हम किसी पदार्थ के गुण, रूप, रंग या आकार आदि

बदलकर उसे पहले से अधिक उपयोगी बनाते हैं, या कम उपयोगी कर देते हैं। वास्तव में इस संसार में उत्पत्ति या विनाश कोई चीज़ है ही नहीं। उदाहरण द्वारा यह बात अच्छी तरह समझ में आ जायगी।

एक आदमी कोई चीज़ बाज़ार में भूल आया। वह समझता है कि उसकी चीज़ खो गई, परंतु असल में वह चीज़ कहीं-न-कहीं अवश्य है। केवल उसका स्थान बदल गया है। इसी प्रकार एक आदमी का कोई पदार्थ जल गया। वह कहता है कि उसका नाश हो गया। परंतु विज्ञान से यह भली भाँति सिद्ध हो सकता है कि उक्त पदार्थ के समस्त अणु परमाणु ब्रह्मांड में मौजूद हैं। कुछ राख के रूप में हैं, कुछ भिन्न-भिन्न प्रकार की गैसों (हवाओं) में बदल गए हैं, और शायद कुछ वायु-मंडल में पानी के तत्त्वों के स्वरूप में हों। अतएव नाश कुछ भी नहीं हुआ। उक्त वस्तु के वज़न का हिसाब बिलकुल अपरिवर्तनशील है, केवल स्वरूप का परिवर्तन हो गया है। यदि यह परिवर्तन ऐसा है कि इससे पदार्थ की उपयोगिता पहले से कम हो गई, तो हम इसे उसका उपभोग कहते हैं।

मुद्रा और बैंकिंग—कोई मनुष्य अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ उत्पन्न नहीं कर सकता। हमें बहुधा अपने जीवन-निर्वाह के लिये भी दूसरों की उत्पन्न की हुई, या बनाई हुई चीज़ों की ज़रूरत होती है। ये चीज़ें तभी मिल सकती हैं, जब हम उनके स्वामियों को उनके बदले में कुछ अपने परिश्रम का फल दें। निदान अदला-बदली सामाजिक मनुष्य के लिये अनिवार्य है। परंतु हर समय हरएक चीज़ की अदला-बदली का सुबीता नहीं होता; अतः समाज ने बड़े अनुभव से इस कार्य के लिये एक माध्यम-मुद्रा निश्चय किया है, मुद्रा से विशेष संबंध रखनेवाली संस्थाएँ बैंक कहलाती हैं।

विनिमय—अदला-बदली इसीलिये होती है कि दोनों पक्षवालों को लाभ हो और तभी तक होती है, जब तक कि दोनों ओर लाभ होता रहे। किसी भी पक्ष का लाभ हटते ही यह कार्य बंद हो जायगा।

जब दो चीज़ों की अदला-बदली होती है, तो उनके परिमाण में कुछ अनुपात-संबंध रहता है, अर्थात् एक वस्तु के कुछ परिमाण के बदले कुछ परिमाण दूसरी वस्तु दी जाती है। इसे हम उसका मूल्य कहते हैं। उदाहरणार्थ यदि दस सेर चावल के बदले बीस सेर गेहूँ मिले, तो दस सेर चावल का मूल्य (Value) बीस सेर गेहूँ हुआ; अर्थात् एक सेर चावल का मूल्य दो सेर गेहूँ हुआ।

जब किसी वस्तु की एक इकाई का मूल्य मुद्रा में बताया जाता है, तो हम उसे उस चीज़ की क़ीमत (Price) कहते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में यदि एक सेर गेहूँ का मूल्य दो आने हो, तो गेहूँ की क़ीमत दो आने फ़ी-सेर हुई। ऐसे हिसाब से पदार्थों को लेना-देना आधुनिक समय का विनिमय है। प्राचीन समय में, जब मुद्रा का प्रचार नहीं था, पदार्थों की अदला-बदली ही विनिमय थी।

धन के वितरण का अभिप्राय—धन की उत्पत्ति के विविध साधनों का वर्णन इस परिच्छेद में हो चुका है। उन्हें उनका प्रतिफल मिलने का नाम अर्थ-शास्त्र में धन-वितरण है। भूमिवाले को लगान, श्रम करनेवाले को वेतन, पूँजीवाले को सूद, व्यवस्था करनेवाले को मुनाफ़ा मिलता है। संभव है, किसी-किसी उत्पादक कार्य में दो या अधिक उत्पादक साधनों का प्रतिफल पाने का अधिकारी एक ही व्यक्ति या व्यक्ति-समूह हो, तथापि प्रत्येक के प्रतिफल का पृथक्-पृथक् हिसाब लगाया जा सकता है।

वितरण की जानेवाली वस्तु—उत्पादक साधनों में उत्पन्न पदार्थ ही नहीं बटता। मेज़, कुर्सी आदि बहुत-सी चीज़ें ऐसी होती

हैं, जिनका विभाग या टुकड़े होने पर उपयोगिता नष्ट हो जाती है। बहुधा ऐसा भी हो सकता है कि कोयला, लोहा आदि जो चीज़ें तैयार हुई हैं, उसकी सबको आवश्यकता न हो। इसलिये उत्पादकों को उत्पन्न वस्तु का हिस्सा न देकर ऐसी रक़म दे दी जाती है, जो उनके हिस्से की वस्तु की मापक हो। किसी उत्पन्न वस्तु के कुल मूल्य को पूरी (Gross) उपज-रक़म कहते हैं। उसमें से उस वस्तु में लगी हुई कच्ची सामग्री और कारख़ाने की टूट-फूट की सँभाल अथवा बीमे की रक़म निकाल देने पर जो रक़म शेष बचती है, उसे वास्तविक या असली (Real या Net) उपज-रक़म कहते हैं। उत्पादक साधनों में असली उपज-रक़म का ही बटवारा होता है, अर्थात् इसी रक़म में से लगान, वेतन, सूद आदि दिए जाते हैं।

राजस्व—आधुनिक देशों में राज-सत्ता का अस्तित्व अनिवार्य है। स्थानिक, प्रांतिक या देशीय शासन-संस्थाएँ विविध कार्य करती हैं। उनके लिये उन्हें धन की ज़रूरत होती है। वे तरह-तरह के टैक्स लगाती हैं। टैक्स लगाने और उन्हें ख़र्च करने में कहीं प्रजा को पूर्ण अधिकार होता है, कहीं अधूरा और कहीं-कहीं बिलकुल ही नहीं—शासक स्वेच्छाचारी होते हैं। जो हो, आर्थिक दृष्टि से यह विषय कम महत्त्व का नहीं। इसी पर आर्थिक स्वराज्य निर्भर रहता है।

पाठक अब समझ गए होंगे कि अर्थ-शास्त्र के विविध विभागों—उत्पत्ति, उपभोग, मुद्रा और बैंकिंग, विनिमय, वितरण और राजस्व का—क्या अर्थ है। अब आगे के खंडों में इन विभागों का पृथक्-पृथक् वर्णन करेंगे।

द्वितीय खंड

पहला परिच्छेद

भारत-भूमि

भूमि और उत्पत्ति—जैसा कि पहले कह आए हैं, धनोत्पत्ति में भूमि का एक विशेष और महत्त्व-पूर्ण स्थान है। मनुष्य के काम में आनेवाले सब पदार्थ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष-रूप से भूमि से ही उत्पन्न हुए हैं। भूमि प्रकृति-दत्त है। यह विना मूल्य मिली हुई है। परंतु अन्य प्रकृति-दत्त पदार्थों में और भूमि में एक अंतर है। अन्य पदार्थ हवा, पानी आदि अपरिमित हैं, परंतु भूमि की मात्रा (क्षेत्रफल) परिमित है। उद्योग करने पर दलदलवाली, समुद्र की सीमा पर की, रेगिस्तान या पर्वत आदि की कुछ भूमि अधिक उपयोगी बनाई जा सकती है, परंतु वह स्वेच्छानुसार बढ़ाई नहीं जा सकती। जितनी भूमि है, मनुष्य की आवश्यकता उससे अधिक की होती जाती है। हवा आदि में यह बात नहीं, साधारणतया वह जितनी चाहे उतनी ख़र्च कर ली जाय, उसके लिये कोई प्रतियोगिता नहीं है।

परंतु धन की उत्पत्ति में पृथ्वी के ऊपर के तल के अतिरिक्त उसके भीतरी भाग (भू-गर्भ) देश के जल-वायु, वर्षा, नदी-नाले, समुद्र आदि का भी प्रभाव पड़ता है। इन सबको भूमि के ही अंतर्गत समझा जाता है।

भारतवर्ष की प्राकृतिक स्थिति—यह एक विशाल भू-खंड है। इसके उत्तर में पर्वत-शिरोमणि हिमाचल की ऊँची, बर्फ़ से ढकी दीवार है; शेष तीन ओर से यह समुद्र से घिरा हुआ है। भिन्न-भिन्न प्रकार की जल-वायु, तरह-तरह की भूमि, विचित्र-विचित्र दृश्य

और भाँति-भाँति की पैदावार देकर मानों प्रकृति ने इसे जगत् की प्रदर्शिनी बनाया है । ऐसी कोई चीज़ नहीं, जो यहाँ पैदा न हो सकती हो । कच्चे पदार्थों का भांडार होने के कारण इसे शिल्पीय पदार्थों की आवश्यकता की पूर्ति करने के लिये विशेष प्राकृतिक सुविधा प्राप्त है। पूर्वीय गोलार्द्ध का केंद्र होने से इसकी स्थिति एशिया, योरप और अफ्रिका से व्यापार करने के लिये बहुत अनुकूल है।

विस्तार—मोटे हिसाब से भारतवर्ष अधिक-से-अधिक लगभग १६०० मील लंबा और प्रायः इतना ही चौड़ा देश है । इसका क्षेत्रफल १८ लाख वर्ग-मील या ११,५०० लाख एकड़ है । इसमें से ११ लाख वर्ग-मील या ६१८२ लाख एकड़ ब्रिटिश भारत में है, और शेष देशी रियासतों में ।

प्राकृतिक विभाग—भारतवर्ष प्राकृतिक-रूप से इन पाँच भागों में विभक्त है—(१) उत्तरी पहाड़ी भाग, (२) ब्रह्म-सिंध-मैदान, (३) दक्षिण भारत, (४) समुद्र-तट और (५) ब्रह्मा ।

उत्तरी पहाड़ी भाग में हिमालय १५०० मील तक बल खाता हुआ चला गया है । इस विभाग की अधिक-से-अधिक चौड़ाई २०० मील है । हिमालय बड़ी-बड़ी नदियों द्वारा उत्तरी-भारत को हरा-भरा रखता है। इसके पश्चिमी भाग का जल विविध नदियों में बहकर सिंध में तथा पूर्वीय भाग का ब्रह्मपुत्र में जा मिलता है। इस विभाग में बड़े मैदान नहीं हैं। यहाँ तरह-तरह की लकड़ियाँ वनौषधियाँ पैदा होती हैं । पहाड़ी नालों के जल में बिजली का अतुल कोष संचित है, परंतु देश में विज्ञान का प्रचार कम होने से इनका अभी यथेष्ट उपयोग नहीं किया जाता ।

ब्रह्म-सिंध-मैदान हिमालय से निकली हुई नदियों की घाटियों से बना हुआ है, और हिमालय की पश्चिमी शाखाओं से पूर्वीय शाखाओं तक फैला हुआ है। इसका क्षेत्र-फल तीन लाख वर्ग-

मील से अधिक है, सारा उत्तरीय भारत इसमें सम्मिलित है। पश्चिमी रेतीले भाग को छोड़कर, यह बहुत उपजाऊ, व्यापार के अनुकूल और घनी आबादीवाला होने में प्रसिद्ध है। सिंध, गंगा और ब्रह्मपुत्र से इसकी सिंचाई अच्छी तरह हो जाती है।

दक्षिणी भारत ब्रह्म-सिंध-मैदान के दक्षिण में पहाड़ों से घिरा हुआ तिकोना मैदान है। इसमें छोटे-छोटे पेड़ और झाड़ियाँ अधिक हैं; जहाँ पानी बहुत है या निकट है, वहाँ बड़े-बड़े वृक्षों के जंगल भी हैं। पत्थरों से बनी हुई मिट्टी काले रंग की है। इसमें आना-जाना मुश्किल है, सड़कें और रेलें कठिनाई से बनती हैं। यह मैदान १२०० से लेकर ३००० फ़ीट तक ऊँचा है।

पश्चिमी समुद्र-तट समुद्र तक और नीचा मैदान है। इसकी चौड़ाई २० मील से ६० मील तक है। पूर्वीय समुद्र-तट की चौड़ाई ४० मील से १०० मील तक है। इन समुद्र-तटों में नारियल के पेड़ बहुत होते हैं, इनमें पैदावार अच्छी होती है।

ब्रह्मा का मुख्य भाग इरावती-नदी की तलहटी है। इसके दोनों ओर वनों से ढकी हुई पहाड़ियाँ हैं। नदी के आस-पास की नीची धरती उपजाऊ है। धान की पैदावार खूब होती है। पहाड़ों पर सागौन के बड़े-बड़े वन हैं। यहाँ पर कई खनिज पदार्थ भी निकलते हैं। मिट्टी का तेल तो प्रसिद्ध ही है।

जल-वायु और उसका आर्थिक प्रभाव—भारतवर्ष भूमध्य-रेखा के पास (उत्तर में) है, परंतु तीन ओर समुद्र से घिरा होने के कारण यहाँ गरमी का प्रभाव बहुत अधिक नहीं होने पाता। स्थल का धरातल समुद्र से कहीं अधिक ऊँचा है और कहीं कम। इससे सारे देश में एक ही तरह का जल-वायु नहीं रहता। प्रायः दक्षिण में गरमी और उत्तरी पहाड़ी प्रदेश में सरदी रहती है; बीच में तरह-तरह की जल-वायु मिलती है। मध्य-भारत और राजपूताना

समुद्र से दूर हैं और शुष्क हैं। अतएव जाड़े में शीतल और गरमियों में बहुत उष्ण रहते हैं।

भारतवर्ष-जैसे प्राकृतिक शक्ति-प्रधान देशों में थोड़ा-सा परिश्रम करने से मानवी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है। गर्म भागों में वस्त्रों की विशेष आवश्यकता नहीं होती। साधारण आदमी वर्ष का अधिक समय केवल लँगोट या अँगोछा पहने बिता देता है। भोजन भी अपेक्षा-कृत कम चाहिए। मकान की भी बहुत ज़रूरत नहीं होती। गर्म देश में मनुष्य जल्दी थक जाते हैं, और बहुधा आरामतलब, रोगी, व्यसनी, दुर्बल या अल्पायु होते हैं।

वर्षा और उसका आर्थिक प्रभाव—कृषि-प्रधान देश होने के कारण यहाँ वर्षा पर बहुत आश्रय रहता है, उसके अधिक अथवा कम होने से फ़सलें मारी जाती हैं, और बहुत-से आदमियों की जीवन-संग्राम की कठिनाई बढ़ जाती है। वर्षा की मात्रा पृथक्-पृथक् होने से भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भाग ख़ास-ख़ास फ़सलों के लिये उपयुक्त हैं, और देश में लगभग सभी चीज़ें पैदा होती हैं। जन-संख्या का आधार भी कुछ अंश में वर्षा की मात्रा ही है। जहाँ वर्षा अच्छी होती है और लोगों को खाने को मिलता है, वहाँ आबादी प्रायः घनी होती है।

वर्षा के संबंध में अन्य देशों से यहाँ यह विशेषता है कि साल में दो मौसमी हवाएँ निश्चित हैं। यद्यपि भिन्न-भिन्न प्रांतों में पहाड़ आदि के कारण उनकी दिशा बदल जाती है, एप्रिल से सितंबर तक दक्षिण-पश्चिम (समुद्र) की ओर से और ऑक्टोबर से मार्च तक उत्तर-पूर्व अर्थात् स्थल की ओर से हवा चलती है। इनमें से पहली हवा से ही वर्षा होती है।

भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रदेशों की वर्षा का औसत आगे दिया

जाता है। यह हिसाब बंबई के 'लेबर-गज़ट' की जनवरी, सन् १९२३ की संख्या से लिया गया है—

	इंच		इंच
दक्षिणी बर्मा	१३२·७	बलोचिस्तान	२·५
पश्चिमी तट दक्षिणार्द्ध या मलाबार	९०·४	पश्चिमी-तट उत्तरार्द्ध या कोकन	९४·३
आसाम	६६·२	बंगाल	६५·८
मध्य-प्रांत पूर्वी	४८·५	उड़ीसा	५४·४
छोटा नागपुर	४६·५	बिहार	४७·२
उत्तरी बर्मा	४१·२	मध्य-प्रांत-पश्चिमी भाग	४३·८
संयुक्त-प्रांत	३८·३	पूर्वी भाग मध्य-भारत	४०·८
उत्तरी मदरास-तट	३५·२	पश्चिमी संयुक्त-प्रांत	३७·४
बरार	३०·४	उत्तरी भाग हैदराबाद	३१·६
दक्षिणी बंबई	२६	पश्चिमी भाग मध्य-भारत	२८·९
मैसूर	३३·४	गुजरात	२३·२
दक्षिणी मदरास	२२·५	पूर्वी राजपूताना	२१·५
पूर्वी और उत्तरी पंजाब	२०·२	पश्चिमी राजपूताना	१०·५
दक्षिणी पश्चिमी पंजाब	८·३	कश्मीर	७·६
पश्चिमोत्तर सीमा-प्रांत	५·२	सिंध	४·६

साधारण तौर पर यह ख़याल किया जाता है कि भारतवर्ष में जिस साल कम वर्षा होती है, उसी साल अकाल अधिक पड़ते हैं; परंतु यह बात पूर्णतः सत्य नहीं है। अकालों का मुख्य कारण जनता की बढ़ती हुई दरिद्रता भी है। वर्षा की बहुधा यहाँ कमी नहीं रहती; परंतु इस देश में उसका पानी संचित करके नहीं रक्खा जाता, वह भूमि में जज़्ब हो जाता है, अथवा नदियों द्वारा समुद्र में बह जाता है। उसे बड़ी-बड़ी झीलों में इकट्ठा करके उसका

वैज्ञानिक बटवारा करने की ज़रूरत है। पुनः यहाँ अत्यधिक वर्षा या पकी हुई फ़सल के समय की वर्षा से कई स्थानों में बड़ी हानि होती है। डॉ० बालकृष्णजी ने लिखा है कि पश्चिमी देशों में ऐसे अवसर पर बादलों को तोपों से उड़ा देते हैं। यहाँ भी राज्य की ओर से उसकी सुविधा होनी चाहिए।

नदियों का आर्थिक प्रभाव—नदियों से व्यापार और कृषि की सिंचाई को बड़ी सहायता मिलती है। उनसे बने हुए डेल्टों और टापुओं की भूमि बहुत उपजाऊ होती है। नदियों की बाढ़ से बहुधा गाँव नष्ट हो जाते हैं, खेती की उपज, पशु और अन्य माल-असबाब बह जाता है; लेकिन साथ ही उससे यह लाभ भी होता है कि कहीं-कहीं भूमि पर उपजाऊ मिट्टी के परत जम जाते हैं, सूखे और बंजर स्थानों में तरावट पहुँच जाती है, एवं ऊसर और रेहवाली मिट्टी बह जाती है। नदियों द्वारा मैदान में पहाड़ों से लकड़ियाँ और बड़े-बड़े लट्ठे बहा लाए जाते हैं; नहरें काटकर अवर्षण-काल में भी कृषि की जाती है।

भारतवर्ष में पंचनद पंजाब के अधिकांश भाग को हरा-भरा रखती है। उसके द्वारा इस प्रांत का माल सिंध तक जा सकता है। गंगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र, इरावती और गोदावरी तथा इनकी शाखाओं से पूर्वी भारत सींचा जाता है, और उनसे देश के भाग ऐसे मिले हुए हैं कि खूब व्यापार हो सकता है। गंगा में एक हज़ार मील तक तथा ब्रह्मपुत्र और सिंध में ८०० मील तक जहाज़ आ-जा सकते हैं। गंगा १५०० मील और सिंधु १८०० मील लंबी है।

दक्षिण भारत में नदियाँ प्रायः छोटी हैं और माल ढोने या सिंचाई करने के लिये उपयोगी नहीं हैं।

भूमि का लेखा—सन् १९२०-२१ ई० का जो सरकारी हिसाब प्रकाशित हुआ है, उसके अनुसार नीचे कुछ तुलनात्मक अंक दिए

जाते हैं। १९०६-७ तक कुछ क्षेत्रफलों का हिसाब नहीं मिला था, इसलिये उस वर्ष के ब्यौरों में वे सम्मिलित नहीं हैं—

भेद	क्षेत्रफल (लाख एकड़ों में)		
	१९०६-७	१९१३-१४	१९२०-२१
सरकारी पैमायश से योग	५८३७	६११६	६२१३
देहाती काग़ज़ों से योग	५७९६	६१७२	६१८२
जंगल	८१७	८२६	८८२
कृषि के अयोग्य भूमि	१३७२	१४७२	१४१५
कृषि के योग्य, किंतु बंजर	१०६७	११५६	११४८
परती भूमि	४००	५२६	६१४
जिसमें फ़सल बोई गई	२१४०	२१९२	२१२३
जिसमें सिंचाई हुई	३६७	४६८	४८९

जंगल—जंगलों का आर्थिक प्रभाव बहुत होता है—

(क) ये वर्षा के जल को जल्दी बहकर चले जाने से रोकते हैं, और उसे पृथ्वी में संचित करके धीरे-धीरे देते रहते हैं।

(ख) ये पत्तों द्वारा हवा को तरी देकर उसकी गरमी (Temperature) कम करते हैं।

(ग) इनसे पशुओं के चरने के लिये अच्छी चरागाहें होती हैं, तथा इमारतों और ईंधन के लिये लकड़ी मिलती है।

(घ) इनसे कई व्यवसाय-संबंधी पदार्थ मिलते हैं; जैसे गोंद, रबड़, लाख, चमड़ा, रँगने के लिये पेड़ों की छाल, तारपीन, मसाले तथा काग़ज़ बनाने की घास आदि।

(ङ) जंगलों से भूमि पर वर्षा भी अधिक होती है।

भारतवर्ष में पश्चिमी घाट, ब्रह्मा, आसाम और हिमालय प्रदेश

में घने-घने जंगल अधिक हैं, जिनकी लकड़ियाँ मकान बनाने के भी काम में आती हैं। पश्चिमी घाट के जंगलों में मध्य-प्रदेश की बड़ी-बड़ी नदियों के किनारे और हिमालय की तलहटी में साल के पेड़ होते हैं। सागौन के वृक्ष ब्रह्मा और मालाबार में अधिक होते हैं। इसकी लकड़ी कड़ी और ठोस होती है तथा दीमक न लगने के कारण बड़ी टिकाऊ रहती है। देवदार और चीड़ के पेड़ हिमालय में होते हैं। आबनूस और चंदन के पेड़ मैसूर और मालाबार के पहाड़ों पर होते हैं।

नारियल के वृक्ष समुद्र के किनारे ही अधिक होते हैं। अनन्नास और केले गर्मतर जल-वायु में पाए जाते हैं। हिमालय के मुख्य फल सेव, नास्पाती और अख़रोट हैं। ब्रह्म-सिंध-मैदान और दक्षिण का मुख्य फल आम है।

जंगल को आग से बचाने, छोटे-छोटे पेड़ों को काटने से रोकने इत्यादि कार्यों के लिये सरकारी जंगल-विभाग सन् १८६१ ई० में स्थापित हुआ। इस विभाग ने उपयोगी पेड़ों के लगाने का भी प्रबंध किया है। मदरास और बर्मा में काफ़ूर के पेड़ लगाने में सफलता हुई है। कई प्रांतों में महागनी और युकलिप्टस के वृक्ष लगाने का प्रयत्न हो रहा है। लाख उपजाने की ओर अधिक ध्यान दिया जा रहा है।

सरकार को इस विभाग से क्रमशः अधिकाधिक लाभ हो रहा है; लकड़ी तथा जंगल की अन्य पैदावार की बिक्री से उसे आमदनी होती है। इस विभाग के स्थापित होने से प्रजा को इतनी असुविधा भी हो गई है कि बहुत-से स्थानों में लोगों को पशु चराने के लिये यथेष्ट भूमि नहीं मिलती तथा लकड़ी के अभाव में गोबर के उपले अधिक जलाए जाने के कारण खेतों में खाद की कमी हो गई है।

कृषि के अयोग्य भूमि—पिछली तालिका से विदित होगा कि ब्रिटिश भारत की फ़ी-सैकड़े लगभग २३ भूमि ऐसी है, जिसमें

कोई चीज़ पैदा नहीं हो सकती। इस भूमि पर या तो मकान आदि बने हुए हैं, या नदी-नाले या सड़कें हैं, अथवा उसका कृषि के अतिरिक्त अन्य कार्यों के लिये उपयोग हो रहा है।

बंजर भूमि—भारतवर्ष में फ़ी-सैकड़े लगभग १६ भूमि ऐसी है, जो कृषि के योग्य, किंतु बंजर है। यह भूमि सबसे अधिक बर्मा में है। उसके बाद क्रमशः मदरास, सिंध और पंजाब का नंबर है। नई ज़मीन जो आबाद हो सकती है, उसका भी अधिकांश बर्मा में ही है। फिर पंजाब, आसाम, मध्य-प्रदेश और मदरास का स्थान है।

परती भूमि का उपयोग—यहाँ प्रति वर्ष फ़ी-सैकड़े लगभग १० भूमि परती पड़ी रहती है। इसमें मूलधन और परिश्रम लगाकर ख़ास-ख़ास जिंसों की खेती की जा सकती है। अब मदरास की कुछ भूमि में क़हवा और देहरादून की कुछ भूमि में चाय की खेती होने से वहाँ लाखों रुपए का धन उत्पन्न होता है (यद्यपि वह अधिकांश योरपियनों के हाथ में है)। पहले यह भूमि परती पड़ी रहती थी।

सन् १६२०-२१ ई० में भारतवर्ष में २१२३ लाख एकड़ भूमि जोती गई थी। इसमें से केवल २६६ लाख एकड़ अर्थात् सिर्फ़ १२ फ़ी-सदी भूमि एक से अधिक बार जोती गई। शेष भूमि पर एक फ़सल बोकर बाद में उसे परती छोड़ दिया गया, जिसमें वह आराम कर ले और उसके जो-जो तत्त्व फ़सल बोने से चले गए हैं, वे वायु-मंडल द्वारा उसमें आ जावें।

विचार-पूर्वक फ़सलों को हेर-फेर से बोने (Rotation of crops) का सिद्धांत काम में लाने से उस परती भूमि पर फिर खेती की जा सकती है। इसका अभिप्राय यह है कि भूमि में एक फ़सल के बाद दूसरी ऐसी फ़सल बोई जाय, जो उन तत्त्वों को लेने-

वाली हों, जो पहली फ़सल के तैयार होने के बाद शेष हों। इस बीच में वायु-मंडल द्वारा अन्य तत्त्वों की पूर्ति हो जायगी। उदाहरणार्थ मकई, नील या सन के बाद गेहूँ, ज्वार के बाद जौ या मसूर, मटर या अलसी, कपास के बाद मकई, जूट के बाद चावल, और ज्वार-बाजरे या गेहूँ के साथ-साथ दालें या तेलहन बोए जा सकते हैं। इस प्रकार भूमि सारे वर्ष जोती जा सकती है, और निरर्थक परती छोड़ना नहीं पड़ती।

जोती हुई भूमि; फ़सलों का क्षेत्रफल—नीचे भिन्न-भिन्न पदार्थों की फ़सलों के क्षेत्रफल के तुलनात्मक अंक दिए जाते हैं। इनसे उनका पारस्परिक महत्त्व प्रकट होगा—

पदार्थ	क्षेत्रफल (लाख एकड़ों में)		
	१९०६-७	१९१३-१४	१९२०-२१
चावल	७३९	७६६	७८१
गेहूँ	२९१	२२७	२०४
जौ	७७	७२	६३
ज्वार	२०८	२१४	२२७
बाजरा	१५०	१५४	१२०
रगी	३६	४४	४२
मकई	६२	६२	६२
चना	१३४	९३	९५
अन्य अनाज या तेलहन	२९८	२८२	२७५
खाद्य अन्नों का योग	१९५१	१९१६	१८६९

गन्ना	२६	२७	२७
मसाले, फल, सब्ज़ी आदि	७३	८१	७६
खाद्य पदार्थों का योग	२०५०	२०२४	१९७२
तेलहन	१४०	१४७	१२४
कपास	१३८	१५८	१४१
सन	३५	३१	२५
अन्य रेशे	७	९	७
नील	५	२	३
अफ़ीम	६	२	१
क़हवा	१	१	१
चाय	५	६	७
तंबाकू	१०	१०	९
चारा	४५	५९	८१
अन्य अखाद्य पदार्थ	१९	१०	१८
अखाद्य पदार्थों का योग	४१०	४४१	४१७

इस तालिका में दिए हुए खाद्य पदार्थों के क्षेत्रफल और अखाद्य पदार्थों के क्षेत्रफल को मिलाने से जो योग आवेगा, वह इस पहली तालिका में दिए हुए उस भूमि के क्षेत्रफल से अधिक आवेगा, जिसमें फ़सल बोई गई। इसका कारण यह है कि कुछ भूमि एक से अधिक बार जोती जाती है। उदाहरणवत् सन् १९२०-२१ ई० में खाद्य पदार्थों और अखाद्य पदार्थों की फ़सलों का क्षेत्रफल १९७२+४१७ अर्थात् २३८९ लाख एकड़ होता है, परंतु इससे पहली तालिका में फ़सलवाली जोती हुई भूमि का क्षेत्रफल २१२३

लाख एकड़ बताया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि २३८६—२१२३ अर्थात् २६६ लाख एकड़ भूमि एक से अधिक बार जोती गई।

सिंचाई—सिंचाई के लिये यहाँ कुएँ और तालाब तो प्राचीन समय से हैं, परंतु नहरों का उल्लेख विशेषतया मुसलमानों के समय से ही मिलता है। संयुक्त-प्रांत, पंजाब, मदरास, बंबई और बिहार में कुओं से सिंचाई होती है; बंगाल, पंजाब और मदरास में नहरों से भी बहुत काम लिया जाता है। मैसूर, हैदराबाद, राजपूताना, गुजरात और उत्तरी बर्मा में तालाब सिंचाई के काम आते हैं। सन् १९१९-२० ई० में छोटी-बड़ी सब नहरों की लंबाई ५५,६३१ मील थी।

सन् १९२०-२१ ई० में राज्य की नहरों से सींची हुई २०१ लाख एकड़, निजी नहरों से २६ लाख, तालाबों से ७२ लाख, कुओं से १४२ लाख एवं अन्य साधनों से ४८ लाख, कुल मिलाकर ४८९ लाख एकड़ भूमि सींची गई थी, जब कि जोती हुई संपूर्ण भूमि का क्षेत्रफल २१२३ लाख एकड़ था। इससे स्पष्ट है कि १६३४ लाख एकड़ अर्थात् ६० प्रति-सैकड़े जोती हुई भूमि का अवलंब केवल वर्षा पर था। यह ठीक नहीं। नहरों की वृद्धि की यहाँ बहुत आवश्यकता है, विशेषतया दक्षिण, मालवा, गुजरात, मध्य-प्रांत, सिंध और राजपूताने के अनिश्चित वर्षावाले इलाक़ों में।

नहरों के निकालने से नदियों का जल कम हो जाता है, और उनके तट पर रहनेवालों को हानि होती है। नहरी ज़मीन में नमी और ऋतु-ज्वर की अधिकता होती है। इसका राज्य की ओर से उपाय किया जा सकता है।

नहरों के अतिरिक्त पंपों से खेतों में जल पहुँचाने की व्यवस्था की जा सकती है। इसमें बैलों द्वारा सिंचाई करने की अपेक्षा ख़र्च कम होता है। समुद्र-तट के निकटवर्ती तथा अन्य जिन प्रांतों

में वायु निरंतर चलती रहती है, वहाँ रहँट द्वारा कुओं से जल निकालने की विधि बहुत लाभकारी हो सकती है।

श्री० डॉ० बालकृष्णजी ने लिखा है कि आजकल कई उन्नत देशों में विना सिंचाई की खेती (Dry Farming) का कार्य बढ़ रहा है। 'अमेरिका में जल की कमी से फ़सलें नहीं मर सकतीं, क्योंकि किसान लोग वर्षा-ऋतु में ही अपने खेतों को ऐसा तैयार कर लेते हैं कि उनके नीचे काफ़ी जल रहता है', और 'जिस भूमि पर बारह इंच की वर्षा होती हो, वह लहलहाते खेतों में परिवर्तित की जा सकती है।' भारतवर्ष में भी इस रीति के प्रचार का विचार होना चाहिए।

क्रमागत ह्रास-नियम—भूमि से उत्पन्न होनेवाली सामग्री के संबंध में यह नियम है कि एक ख़ास सीमा तक तो उसमें मूल-धन और परिश्रम बढ़ाने से लाभ होता है; लेकिन उस सीमा के आने पर फिर मूलधन और परिश्रम जिस अनुपात में बढ़ाया जाता है, उसी अनुपात में पैदावार नहीं बढ़ती, कम अनुपात में बढ़ती है। उत्पत्ति का यह अनुपात आगे चलकर क्रमशः कम होता जाता है। अधिक परिश्रम और मूलधन लगाने से जो अधिक फ़सल होती है, वह परिश्रम और मूल-धन की अधिकता के अनुपात में नहीं होती। थोड़ी पैदावार बढ़ाने के लिये ख़र्च अधिक करना होता है। पैदावार के इस स्वाभाविक नियम को 'क्रमागत ह्रास-नियम' (Law of Diminishing Returns) कहते हैं।

इसे अधिक स्पष्ट करने के लिये इस संबंध में पं० महावीर-प्रसादजी द्विवेदी का कथन और उदाहरण आगे दिया जाता है।*

कृषि-विद्या के नियमों के अनुसार जैसे ज़मीन की उत्पादक शक्ति की सीमा है, वैसे ही पैदावार बढ़ाने के लिये पूँजी लगाने

---

* संपत्ति-शास्त्र से।

और मेहनत करने की भी सीमा है। बात यह है कि पूँजी और परिश्रम की वृद्धि वहीं तक करनी चाहिए, जहाँ तक कि बढ़ी हुई पैदावार से उसका बदला भी मिल जाय। ख़ैर, न बचे तो कुछ घर स तो न देना पड़े।

जहाँ तक ज़मीन की उर्वरा या उत्पादक शक्ति की सीमा का अतिक्रम नहीं होता, वहीं तक अधिक ख़र्च करने से लाभ हो सकता है; आगे नहीं।

उत्पादकता की सीमा पर पहुँच जाने पर ख़र्च बढ़ाने से लाभ के बदले उलटी हानि होती है। यह बात एक उदाहरण द्वारा और भी अच्छी तरह ध्यान में आ जायगी। मान लीजिए कि तीन सौ बीघे ज़मीन का एक टुकड़ा है। उसकी सालाना पैदावार छः हज़ार मन ग़ल्ला है। दस आदमी मिलकर उसमें खेती करते हैं। इस हिसाब से फ़ी-बीघे बीस मन और फ़ी-आदमी छः सौ मन ग़ल्ला पड़ा। अब यदि पाँच आदमी और साझी हो जायँ और खाद, सिंचाई और यंत्रों आदि में रुपया ख़र्च करके—अर्थात् पूँजी और मेहनत की मात्रा को बढ़ाकर—अधिक ग़ल्ला पैदा करने की कोशिश करें, तो इस बात को देखना होगा कि कितना अधिक ग़ल्ला पैदा होगा। पहले फ़ी-आदमी छः सौ मन पड़ता था, अब इतना ही पड़ेगा या कमोबेश। यहाँ पर यह विचार करना होगा कि ज़मीन की उत्पादक शक्ति पहले ही अपनी सीमा को पहुँच गई थी या नहीं। यदि नहीं पहुँची थी, तो दस की जगह पंद्रह आदमियों की पूँजी और मेहनत से पहले की अपेक्षा अधिक पैदावार हो सकती है; अर्थात् फ़ी-आदमी छः सौ मन से अधिक ग़ल्ला पड़ सकता है। परंतु यदि उस सीमा को वह पहले ही पहुँच चुकी है, तो छः सौ मन से कम ही पड़ेगा। फल, यह होगा कि पैदावार बढ़ाने की कोशिश में अधिक पूँजी लगाने और अधिक मेहनत करने पर भी,

फ़ी-आदमी हिस्सा कम पड़ेगा। धीरे-धीरे यह हिस्सा और भी कम होता जायगा। यहाँ तक कि दो-चार वर्ष बाद पैदावार की अपेक्षा ख़र्च बढ़ जायगा, और उन पंद्रह आदमियों का गुज़ारा मुश्किल से होगा। उन्हें ज़मीन छोड़कर भागना पड़ेगा।

जिस ज़मीन की पैदावार सिर्फ़ जोतने, बोने, रखाने आदि के ख़र्च के बराबर होती है, उसे कहते हैं कि वह कृषि की पूर्व सीमा पर स्थित है, अर्थात् खेती करने की ठीक पहली हद पर है। इससे मालूम हुआ कि ज़मीन की उत्पादकता की दो सीमाएँ हैं। एक तो वह, जिसके नीचे चले जाने से कोई खेती कर ही नहीं सकता, क्योंकि इस दशा में ख़र्च ही नहीं निकलता, और दूसरी वह, जिसमें अधिक-से-अधिक पैदावार होती है—इतनी कि उससे अधिक हो ही नहीं सकती। उर्वरा-शक्ति होने पर भी जिस ज़मीन में पूरी पैदावार नहीं होती, उसे रोगी समझना चाहिए। अधिक पूँजी और अधिक मेहनत के रूप में दवा देकर उसकी स्वाभाविक उर्वरा-शक्ति बढ़ाई जा सकती है, अर्थात् वह उत्पादकता की ऊपरी सीमा तक पहुँचाई जा सकती है। उस सीमा पर पहुँच जाने पर फिर अधिक ख़र्च करने से कोई लाभ नहीं होता।

स्मरण रहे कि उपर्युक्त नियम उत्पन्न सामग्री के परिमाण से संबंध रखता है, उसके मूल्य से नहीं; क्योंकि मूल्य कई कारणों से घट-बढ़ सकता है, जैसे नज़दीक से रेल का निकल जाना, पास ही बड़ी मंडी या बाज़ार लग जाना, अथवा एकदम उस पदार्थ की बहुत माँग हो जाना आदि। इन बातों का सविस्तर वर्णन आगे प्रसंगानुसार किया जायगा।

जन-संख्या और भूमि*—सन् १९२०-२१ ई० में ब्रिटिश

* भारत की सांपत्तिक अवस्था, और सरकारी रिपोर्ट के आधार पर।

भारत में कुल २१-३८ करोड़ एकड़ भूमि जोती गई। इस क्षेत्रफल में प्रायः वह सब भूमि है, जो काम में लाई जा सकती है, थोड़ी-सी ही ज़मीन और है, जो परिश्रम करने से व्यवहारोपयोगी बनाई जा सकती है। इस प्रकार ब्रिटिश भारतवर्ष के २४ करोड़ आदमियों के हिसाब से औसत लगाने पर एक आदमी-पीछे एक एकड़ ज़मीन भी नहीं आती। यदि इसमें से वह (अधिकांश अच्छी और बढ़िया) ज़मीन निकाल दी जाय, जिसमें जूट, कपास आदि अखाद्य पदार्थ उपजाए जाते हैं, तो एक आदमी-पीछे पौन एकड़ ज़मीन भी नहीं मिलेगी।

यदि खेती से अप्रत्यक्ष-रूप से जीवन-निर्वाह करनेवालों को अलग कर दें, तो ब्रिटिश-भारत में एक किसान-पीछे औसत २·६ एकड़ से अधिक ज़मीन नहीं पड़ेगी। पर लड़ाई के पहले ग्रेट-ब्रिटेन में एक किसान-पीछे १७·३ तथा जर्मनी में ८·४ एकड़ ज़मीन पड़ती थी।

यदि मनुष्य-संख्या बढ़ती ही गई, तथा लोग दूसरी ओर न जाकर खेती पर ही भरोसा करते रहे, तो या तो जिस ज़मीन पर खेती हो रही है, उससे अधिक पैदावार करने का प्रयत्न करना होगा अथवा नई ज़मीन पर खेती करनी होगी। अधिक पैदावार करने में उत्पादकता का ह्रास-क्रम (Diminishing Returns) का नियम लगता है, इसका अभी उल्लेख किया जा चुका है। नई ज़मीन में भी सब अच्छी ही नहीं निकलेगी; उसमें से बहुत-सी ख़राब भी निकलेगी।

खेतों के छोटे-छोटे और दूर-दूर होने से हानियाँ और उन्हें रोकने का उपाय*—संयुक्त-प्रांत और बंबई के कुछ गाँवों की

---

* 'भारत में कृषि-सुधार' के आधार पर।

जाँच करने से मालूम हुआ है कि बहुत-से खेतों का क्षेत्रफल एक-एक दो-दो एकड़ भी नहीं है। कितने ही खेतों का विस्तार तो केवल आधा-आधा एकड़ ही है, अथवा इससे भी कम। यही दशा प्रायः सभी प्रांतों की है। इसके अतिरिक्त अनेक किसानों के पास एक से अधिक खेत हैं, जो प्रायः एक-दूसरे से दूर-दूर पर हैं। इस-से काश्तकारों को नीचे लिखे नुक़सान होते हैं—

(१) आने-जाने में उनका बहुत-सा समय नष्ट हो जाता है।

(२) उन्हें वैज्ञानिक यंत्र इत्यादि का उपयोग करने में बहुत असुविधा होती है तथा वे उससे यथेष्ट लाभ नहीं उठा सकते।

(३) रखवाली करने में बहुत दिक़्क़त होती है।

(४) उन खेतों में जाने के लिये रास्ता बनाने में और उनमें नहर से पानी ले जाने में बड़ी अड़चन पड़ती है।

(५) काश्तकारों का पारस्परिक झगड़ा बढ़ता है।

(६) मेंड़ आदि बनाने में बहुत-सी ज़मीन बेकार जाती है।

इन सब हानियों के कारण किसान खेती से पूरा-पूरा लाभ नहीं उठा सकते। कृषि-सुधार के लिये इस असुविधा का शीघ्र ही दूरी-करण अति आवश्यक है, और उसका एक-मात्र साधन यह है कि प्रत्येक किसान की जोत के खेत एक स्थान में—एक चक में—हो जायँ, और भविष्य में उनका छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटा जाना क़ानूनन् रोक दिया जाय।

प्रतापगढ़ के भूतपूर्व डिप्टी कमिश्नर श्री० बी०एन्० मेहता और वहाँ के कोर्ट-आफ़-वार्ड्स के स्पेशल मैनेजर श्री० चंपारामजी मिश्र ने कालाकाँकर-रियासत के मनार-गाँव में खेतों की चकबंदी करने का प्रयत्न किया था। इसमें वे सफल भी हुए। उन्होंने उस गाँव के किसानों से अपनी जोत के त्याग-पत्र लिखा लिए; फिर उनके चक बनाकर किसानों को उचित रूप से बाँट दिए। इस व्यवस्था

से लाभ यह हुआ कि उस गाँव के प्रत्येक किसान की भूमि एक स्थान में हो गई। चकबंदी का यह काम अगर अन्य स्थानों में भी विचार-पूर्वक किया जाय, तो उसका फल अच्छा ही होगा।

आजकल खेतों के बटवारे का मुख्य कारण हिंदू और मुसलमानों का दाय-विभाग क़ानून है। इसलिये इस क़ानून में ऐसा परिवर्तन हो जाना चाहिए कि किसी खेत का चार एकड़ से कम का हिस्सा किसी हक़दार को मिलना नाजायज़ समझा जाय, और जब ऐसा प्रसंग आवे, तो पूरा खेत सब हक़दारों में ही नीलाम कर दिया जाय। जो उसके लिये सबसे ज़्यादह रुपए देने को तैयार हो, उसी को वह खेत मिले, और दूसरे हक़दारों को उनके हिस्से के अनुसार रुपया दिला दिया जाय। हम सारी ज़मीन बड़े लड़के को दिए जाने के पक्ष में नहीं हैं, ऐसा करना हिंदू और मुसलमान, दोनों के धर्म-शास्त्रों के सिद्धांतों के विरुद्ध होगा। उपर्युक्त थोड़े-से परिवर्तन से ही अभीष्ट-सिद्धि हो सकती है।

दूसरा परिच्छेद

भारतीय जनता या श्रम

श्रम का महत्त्व—पिछले परिच्छेद में हम भूमि का वर्णन कर चुके हैं। वह विना मेहनत के केवल थोड़े-से, सो भी कच्चे पदार्थों को पैदा कर सकती है। जंगलों में स्वयं उत्पन्न पदार्थ मेहनत के विना मनुष्य के लिये विशेष उपयोगी नहीं होते, उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते। भिन्न-भिन्न उपयोगी वस्तुओं का संग्रह करके रखने में या उन्हें ऐसे रूप में लाने में कि वे मनुष्य की इच्छाओं को पूर्ण कर सकें, परिश्रम आवश्यक है।

उत्पादक श्रम; प्रत्यक्ष और परोक्ष—जिस श्रम से ऐसी वस्तु बनाई जाती है, जो धन की उत्पत्ति या वृद्धि में सहायक हो,

अथवा जो श्रम दूसरों की धनोत्पादक-शक्ति बढ़ाए, उसे उत्पादक श्रम कहते हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष, दो तरह से, श्रम उत्पादक हुआ करता है। जो परिश्रम किसी वस्तु के अंतिम रूप को तैयार करने में उसी समय लगता है, या जिससे पदार्थों में प्रत्यक्ष उपयोगिता हो जाती है, वह प्रत्यक्ष उत्पादक कहलाता है, और जो श्रम किसी वस्तु के किसी अन्य पूर्व रूप के तैयार करने में लगता है या जिससे परोक्ष उपयोगिता आती है, वह अप्रत्यक्ष उत्पादक कहा जाता है।

उदाहरणार्थ, हल एक प्रत्यक्ष उपयोगी पदार्थ है, उसे लकड़ी से तैयार करने में बढ़ई का परिश्रम प्रत्यक्ष परिश्रम है। लकड़ी काटने और उसे जंगल से लाने का परिश्रम परोक्ष रहा। परोक्ष परिश्रम का दूसरा उदाहरण अध्यापकों और लेखकों का परिश्रम है। उससे प्रत्यक्ष में कोई धन पैदा नहीं होता, परंतु उसके द्वारा अन्य मनुष्य शिक्षा पाकर धन उत्पन्न करने के योग्य बन जाते हैं।

अनुत्पादक श्रम—जिस श्रम से ऐसा पदार्थ बनाया जाय, जो अनुपयोगी हो, अथवा अपेक्षा-कृत बहुत कम समय तक उपयोगी रहे, उसे अनुत्पादक श्रम कहते हैं। उदाहरणार्थ, एक आतशबाज़ दस रुपए की पूंजी से आतशबाज़ी बनाकर बीस रुपए में बेचता है, जो क्षणिक मनोरंजन के बाद नष्ट हो जाती है। इससे आतशबाज़ के पास तो दस के बजाय बीस रुपए हो जाते हैं; परंतु देश के तीस रुपए ख़र्च हो चुकते हैं—दस रुपए आतशबाज़ की पूँजी के और बीस रुपए आतशबाज़ी ख़रीदनेवाले के। इस प्रकार हिसाब करके देखने से देश को दस रुपए का नुक़सान है। इसलिये आतशबाज़ का श्रम अनुत्पादक है। इसी तरह इतर, फुलेल, झाड़-फ़ानूस, अन्य विलास-सामग्री या क़िस्से-कहानी आदि क्षणिक मनोरंजन करनेवाली चीज़ों का उदाहरण लिया जा सकता है। शराब आदि चीज़ें एक

ख़ास सीमा तक उपयोगी हैं, वहीं तक इनके बनानेवालों का श्रम उत्पादक समझा जाना चाहिए।

श्रम का लक्षण—भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यों में तरह-तरह का परिश्रम होने पर भी यह बात अवश्य देखी जाती है कि प्रत्येक श्रम पदार्थों को या उनके भिन्न-भिन्न भागों या तत्त्वों को गति-प्रदान करता है। खेती करने में बीज भूमि में रक्खा जाता है, और उसे जल पहुँचाया जाता है। यह कार्य मनुष्य के श्रम के द्वारा गति देने से होता है; शेष प्राकृतिक नियमों के अनुसार स्वयं हो जाता है। इसी प्रकार लकड़ी की कोई चीज़ बनाने में पहले कुल्हाड़े को गति देकर पेड़ काटा जाता है, फिर आरे को गति देकर तख़्ते चीरे जाते हैं। पश्चात् भिन्न-भिन्न प्रकार की गति देने से कोई चीज़ तैयार होती है।

'श्रम' में शारीरिक बल के अतिरिक्त मनुष्यों के आचार, विचार, ज्ञान, कौशल, शिक्षा, व्यवहार, धर्म, रीति, रहन-सहन आदि-संबंधी समस्त योग्यता समझी जाती है, जो धनोत्पादन में सहायक हो सके।

भारतीय जन-संख्या—भारतवर्ष एक विशाल, उपजाऊ और गर्म देश है। यहाँ विवाह और संतानोत्पत्ति करना धार्मिक कर्तव्य-सा है, फ़ी-हज़ार जनता में लगभग ४४ बच्चे प्रति वर्ष उत्पन्न होते हैं। इतनी अधिक उत्पत्ति-संख्या बहुत कम सभ्य देशों में है। यद्यपि आजीविका के साधनों की कमी, महँगी और विविध रोगों के कारण यहाँ की वार्षिक मृत्यु-संख्या (फ़ी-हज़ार ३१) भी अधिक है, तथापि जनता की वृद्धि होती जा रही है। सन् १८७१ में जन-संख्या २०·६ करोड़ थी, १८८१ में २५·४ करोड़, १८९१ में २८·७ करोड़, १९०१ में २९·४ करोड़, १९११ में ३१·५ करोड़, १९२१ में ३२ करोड़ हुई।

मालथस-नामक अर्थ-शास्त्री का यह सिद्धांत है कि यदि कोई बाधा उपस्थित न हो, तो देश की जन-संख्या ज्यामितिक वृद्धि (Geometrical progression) अर्थात् १, २, ४, ८, १६, ३२ या १, ३, ९, २७, ८१, २४३ आदि के हिसाब से बढ़ती है, और खाद्य पदार्थ १, २, ३, ४, ५, ६ या १, १॥, २, २॥, ३, ३॥ आदि अर्थात् अंक-गणित की वृद्धि (Arithmetical progression) के हिसाब से बढ़ते हैं। यदि जनता की वृद्धि नियमित रूप से न रोकी जाय, तो दरिद्रता (जो अनियमित वृद्धि का एक अवश्यंभावी परिणाम है) या ईश्वरीय कोप द्वारा उसका ह्रास होता है। राज्यों में परस्पर युद्ध छिड़ जाता है, भाँति-भाँति के रोग फैलते हैं, और बालकों की मृत्यु-संख्या बढ़ जाती है। जिन देशों में वैज्ञानिक आविष्कारों से खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति बहुत बढ़ाई जाती है, और रोगों के निवारण के भी उन्नत उपाय काम में लाए जाते हैं, वहाँ यह सिद्धांत पूर्णतया नहीं घटित होता, तथापि पराधीन भारत के लिये तो इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि संतानोत्पत्ति यथेष्ट विचार-पूर्वक हो।

धनोत्पत्ति के साधन की दृष्टि से वर्तमान जन-संख्या बहुत है। यदि इतने आदमी भली भाँति शिक्षित, कुशल, स्वस्थ और स्वाधीन रहकर श्रम करें, तो देश की श्री-वृद्धि का क्या ठिकाना ? परंतु भारत की आर्थिक दुर्दशा तो प्रसिद्ध ही है, इसका एक कारण यह भी है कि कुछ आदमी तो रोगी या आलसी होने से अपनी आजीविकार्थ उद्योग नहीं करते और बहुत-से आदमियों को यथोचित योग्यता या सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं।

ब्रिटिश-भारत और बर्मा में बीस वर्षों में (सन् १८९० से सन् १९१० तक) विविध रोगों के बहुत शिकार होते हुए भी भारतवासियों की संख्या सैकड़े-पीछे ५·७ बढ़ी है, परंतु खाद्य पदार्थों

की उपज सैकड़े-पीछे ३ ही बढ़ी । फिर मूल्य-वृद्धि, महँगी और विदेशों के खाद्य पदार्थों की आयात भी क्यों न बढ़े ?

पं० दयाशंकरजी दुबे ने अपनी 'भारत में कृषि-सुधार'-नामक पुस्तक में हिसाब लगाकर यह बतलाया है कि १९१९-२० में, जो कि कृषि की दृष्टि से बहुत अच्छा वर्ष था, आधा पेट भोजन पानेवालों की संख्या प्रायः चार करोड़ थी, और यह संख्या १९१३-१४ में दस करोड़ और सन् १९२०-२१ में तेरह करोड़ थी। सन् १९१८-१९ में तो यह संख्या १७ करोड़ तक पहुँच गई थी। गत दस वर्ष अर्थात् सन् १९११-१२ से सन् १९२०-२१ तक का औसत निकालने पर प्रकट होता है कि ८ करोड़ ८० लाख युवा मनुष्यों* को, या यों कहिए कि देश के दो-तिहाई से अधिक जवान स्त्री-पुरुषों को, हमेशा आधा पेट भोजन करके ही जीवन व्यतीत करना पड़ता है। अतः यह स्पष्ट है कि देश में जन-संख्या की वृद्धि बहुत अनियमित रूप से हो रही है। जन-समुदाय की अंधाधुंध वृद्धि हो जाने से और उनके लिये यथोचित आजीविका के साधन न होने से देश में दुर्भिक्ष, महामारी और दुर्बलता का साम्राज्य बढ़ता जायगा।

सरकार का कथन है कि जनता की जितनी वृद्धि हुई है, नहरों और रेलों द्वारा खाद्य द्रव्यों की उपज में भी उतनी ही वृद्धि हुई है। यदि यह भी मान लिया जाय, तो भी संतोष का विषय नहीं है। यदि दिखाने को हमारी आर्थिक अवस्था बीस वर्ष पहले की-सी हो, तो भी असली अवस्था में अवश्य ही अंतर आ गया है। अब मनुष्यों की आवश्यकताएँ बहुत बढ़ गई हैं, जीवन के आदर्श बदल गए हैं। बीस वर्ष पहले जितनी चीज़ों से काम चल जाता

---

* जिनकी आयु १५ वर्ष से ६० वर्ष तक की हो।

था, अब उतनी चीज़ों से सब काम नहीं चलता। उन सब वस्तुओं का मूल्य भी बढ़ गया है। अतः जनता की वृद्धि हर प्रकार शोचनीय है।

जाति-भेद—अंधकार-युग ने जाति-भेद का प्राचीन रूप बहुत बदल और साथ-ही-साथ बिगाड़ दिया है। पहले यहाँ जातियों की संख्या गुण-कर्मानुसार केवल चार थीं। पीछे धीरे-धीरे बढ़कर वह हज़ारों पर पहुँच गई, और प्रत्येक जाति एक दूसरी से पृथक् हो गई। सामाजिक दृष्टि से जाति-भेद का बहुत कुछ विचार होने पर भी अब आर्थिक दृष्टि से, इसका बंधन शिथिल होता जा रहा है। वर्तमान शिक्षा, सभ्यता, धार्मिक जागृति, आजीविका-प्राप्ति की कठिनाइयों और राष्ट्रीय आंदोलन ने इस कार्य में सहायता पहुँचाई है।

गुण-दोष—आर्थिक दृष्टि से इसके प्रधान लाभ ये मालूम होते हैं—

(अ) इससे वंशानुगत कार्य-कुशलता की प्राप्ति होती है, बाप-दादे के किए हुए काम की शिक्षा और उसके रहस्य जल्दी जान लिए जाते हैं।

(आ) हरएक जातिवालों का एक संघ होता है, जिसके सदस्य परस्पर एक दूसरे की सहायता कर सकते हैं, कार्य की मज़दूरी को नियमित करते हैं, अपने झगड़े आप तय कर लेते हैं, अपराधियों को दंड देते हैं, और निर्धन भाइयों की रक्षा में सहायक होते हैं। समय और सभ्यता के फेर से भिन्न-भिन्न भागों में इन बातों में अंतर आ गया है, और ये केवल आदर्श के रूप से रह गई हैं।

(इ) इससे कुछ अंश तक स्थूल श्रम-विभाग होता है। एक जाति के पुरुष एक ही कार्य करते हैं, परंतु उन्हें किसी नवीन कार्य का आरंभ करना कठिन भी हो जाता है।

जाति-भेद से होनेवाली मुख्य हानियाँ ये हैं—

(क) स्थान या पेशे के बदलने में कठिनाई होती है। कुछ जातियों को नए ढंग से अपना कार्य-संचालन करने में बाधा होती है।

(ख) कई जातियों को अछूत या नीच माने जाने से समाज में श्रम की यथेष्ट महिमा नहीं रहती।

(ग) कल-कारख़ाने आदि बड़े-बड़े कार्यों के संगठन के लिये जाति-भेद बाधक होता है।

(घ) चौके की छुआ-छूत के कारण बहुत अपव्यय होता है। जब भिन्न-भिन्न जाति के आदमी अपना-अपना भोजन अपने ही हाथ से पकाते हैं, तो उसकी अलग-अलग व्यवस्था करने में स्थान, ईंधन आदि की अधिक आवश्यकता होती है, तथा बुद्धिमान् आदमी को, जो बहु-मूल्य कार्य-संपादन कर सकता है, अपना बहुत-सा समय खाना पकाने में ही लगा देना पड़ता है।

संयुक्त कुटुंब-प्रणाली—भारतवर्ष के बहुत-से भागों में एक कुटुंब या परिवार के व्यक्ति इकट्ठे रहते, और मिलकर धन-उपार्जन तथा व्यय करते हैं। सब कमानेवालों की आमदनी घर के एक बड़े-बूढ़े के पास जमा होती है। वह सबकी ज़रूरतें पूरी करने की कोशिश करता है। इससे—

(१) अनाथों की शिक्षा तथा रक्षा में कुछ सुविधा होती है, तथा बीमारी या बुढ़ापे में कोई निराश्रय और असहाय नहीं होता।

(२) कोई आदमी अपनी मेहनत का तमाम फल अपनी संतान के लिये ही नहीं छोड़ सकता, अतः धनोपार्जन में उसे विशेष उत्साह नहीं होता।

(३) रोटी-कपड़ा मिलने की आशा सबको बनी रहती है।

इसलिये प्रत्येक व्यक्ति में स्वावलंबन तथा साहस नहीं होता। कोई-कोई व्यक्ति मुफ़्त में ही बेकार रहता हुआ अपने दिन काटा करता है।

(४) एक व्यक्ति चिरकाल तक बड़ा पूँजी-पति नहीं रहने पाता; क्योंकि उसके मरने पर उसका धन कुटुंब के सब आदमियों के हिस्से में आता है।

(५) इस प्रणाली में आधुनिक व्यक्ति-गत स्वतंत्रता के भावों का उदय नहीं होता। बहुधा पुरुष पराधीनता में कलह और दुःख का जीवन व्यतीत करते हैं, जो राष्ट्रीय दृष्टि से धनोत्पत्ति में बाधक है।

कृषि-श्रम—कृषि-प्रधान भारतीय जनता में आधे से अधिक ज़मींदार या किसान हैं। आठवाँ हिस्सा कृषि-श्रमजीवी और लगभग ३ फ़ी-सदी सामान्य श्रमजीवी हैं। हिसाब से मालूम हुआ है कि भारतवर्ष में १०० काश्तकार औसतन् २५ श्रमजीवी रखते हैं। यह संख्या भिन्न-भिन्न प्रांतों में पृथक्-पृथक् है।

कृषि-श्रमजीवी के संतोषी, परिश्रमी और सहनशील होने में कोई संदेह नहीं। उसके पास बहुधा कुछ अपनी भूमि भी होती है। वह ज़मींदार की ज़मीन के साथ इसे भी जोतता है। इसके अतिरिक्त वह और भी काम करता रहता है। वह बैलगाड़ी रखता है, उसमें किराए पर सवारियाँ ले जाता है या माल ढोता है। औरतें खेतों में निराई-कटाई आदि कार्य करती हैं, ईंधन बेचती हैं; गोबर के उपले (या कंडे) थापती हैं (जो निकटवर्ती क़स्बों में बिकते हैं) कपास लोढ़ती हैं, सूत कातती हैं और दूसरे काम करती हैं, इस प्रकार कृषि-श्रमजीवी का ध्यान भिन्न-भिन्न ओर रहता है, एक ही धंधे में नहीं रहता।

भारतीय कृषि-श्रमजीवी को लोग बहुधा गँवार, अयोग्य और कूढ़-मग़ज़ समझते हैं। यद्यपि वह नवीन कार्य-प्रणाली से अपरिचित

और पुराने संरक्षण-शील विचारवाला होता है, तथापि उसे अपने वंशानुगत कार्य का स्वाभाविक ज्ञान होता है। वह विना सिखाए ही यह जानता है कि कौन-सी फ़सल कब और कैसी ज़मीन में बोनी चाहिए और किस भूमि में एक फ़सल के बाद कौन-सी फ़सल बोना लाभकारी होगा। उसके साधन प्रायः अपर्याप्त होते हैं, आर्थिक बाधाएँ उसके सुधार-कार्यों में पग-पग पर बाधक होती हैं। वैज्ञानिक प्रणाली का प्रयोग करने, बड़े-बड़े खेत रखने, अच्छी खाद देने, गहरी जोताई, पूरी आबपाशी और फ़सलों की यथोचित अदला-बदली करने के लिये बड़ी पूँजी चाहिए। इस पूँजी के अभाव में वह उक्त सुधारों की उपयोगिता जानता हुआ भी उन्हें अमल में नहीं ला सकता।

भारत में धनोत्पत्ति का काम यथेष्ट-रूप से होने के लिये किसानों का उत्थान आवश्यक है। इसके वास्ते लगान की मात्रा कम होने तथा उसके वसूल करने के ढंग आदि के संबंध में प्रसंगानुसार वर्णन किया जायगा। यहाँ हम उनकी शिक्षा के विषय में ही कुछ लिखते हैं।

कृषकों की शिक्षा—भारतवर्ष में 'किसान'-शब्द अनपढ़ होने का अर्थ रखता है। जब कि यहाँ कुल जनता में ही सात फ़ी-सदी आदमी पढ़े-लिखे हों, तो दीन-हीन कृषकों में तो शिक्षा पानेवालों का अनुपात और भी कम होना स्वाभाविक है। अब देश में जागृति होने लगी है, और राष्ट्र के मुख्य आधार कृषकों को शिक्षित करने के प्रश्न पर भी ध्यान दिया जा रहा है। यह विषय भी विचाराधीन है कि कृषकों की शिक्षा में सामान्य शिक्षा से क्या विशेषता हो।

श्री० पं० दयाशंकरजी दुबे की योजना की मुख्य-मुख्य बातें इस प्रकार हैं*—

* 'भारत में कृषि-सुधार' के आधार पर।

(१) प्रत्येक ग्रामीण पाठशाला में वही शिक्षा दी जानी चाहिए, जो भविष्य में विद्यार्थी के काम आवे। शिक्षक सुयोग्य और चरित्रवान् हो।

(२) उसमें प्रायः छः वर्ग हों। किसानों के लड़कों को पाँचवें और छठे वर्गों में प्रयोगात्मक कृषि की शिक्षा अवश्य दी जाय, इसके लिये प्रत्येक पाठशाला से एक छोटा खेत लगा हुआ रहे। जो खेती न करना चाहते हों, उनको उन वर्गों में अन्य किसी पेशे की शिक्षा दी जाय।

(३) उनकी पाठ्य पुस्तकों में उनके उपयोगी पाठ हों। गणित में भी उनके लिये लाभकारी नियम रहें; जैसे लगान, ब्याज, मुनाफ़ा आदि।

(४) शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा ही हो और शिक्षा निश्शुल्क रहे। free

(५) पाठशालाओं में छुट्टियाँ इस तरह दी जायँ, जिससे लड़के बोनी और कटनी के समय अपने माता-पिता के साथ काम कर सकें।

(६) विद्यार्थियों को साख की तथा अन्य प्रकार की समितियों का यथेष्ट ज्ञान कराना चाहिए।

(७) विद्यार्थियों को चर्खा चलाना भी सिखाना चाहिए, जिससे बाद में खेती करते समय वे अपने अवकाश का सदुपयोग कर सकें।

ये बातें निस्संदेह उपयोगी हैं। सरकारी कृषि-स्कूल और कॉलेज बहुत कुछ दिखावटी काम करते हैं, उनसे प्रजा का यथेष्ट हित-साधन नहीं होता।

श्रमजीवियों के गुण-दोष—साधारणतया हमारे कारीगर अपने वंश-क्रमानुगत शिल्प के कार्य को जल्दी सीख लेते हैं।

उन्हें सुअवसर मिलना चाहिए। जहाँ गरमी के कारण सुस्ती नहीं आ जाती, वहाँ प्रायः मज़दूर लोग परिश्रमी रहते हैं। पाश्चात्य सभ्यता का अधिक प्रचार होने से यद्यपि गत वर्षों में यहाँ शराब-ख़ोरी बढ़ गई है (जो खेद-जनक है), तथापि पाश्चात्य देशों के मुक़ाबिले में यहाँ बहुत कम नशा होता है। वर्तमान असहयोग-आंदोलन से यह और कम होता जाता है। यहाँ के श्रमजीवी धार्मिक आचार-विचार के कारण स्वभाव से ही संतोषी पाए जाते हैं। उनका रहन-सहन साधारण और आवश्यकताएँ कम रहती हैं। बिलकुल लाचारी की अवस्था उपस्थित होने के पूर्व वे बहुधा अपना निवास-स्थान छोड़कर दूसरी जगह जाकर मेहनत करना पसंद नहीं करते। अधिकांश लोग पुराने धंधों को ही, पुरानी ही शैली से, करने के आदी होते हैं, नए काम उन्हें नहीं रुचते।

भारतीय श्रमजीवियों की मेहनत प्रायः घटिया -दर्जे की या कम उत्पादक होती है, इसलिये बहुधा बड़े-बड़े कामों में सस्ती दिखलाई पड़ने पर भी अन्य उन्नत देशों की अपेक्षा वास्तव में महँगी पड़ती है। इसके कई कारण हैं। यथोचित ज्ञान के अतिरिक्त वे यथेष्ट पुष्टिकर भोजन भी नहीं पाते; उनके रहन-सहन, शिक्षा, निवास-स्थान आदि सब बातों में यथेष्ट सुधार की आवश्यकता है।

औद्योगिक शिक्षा की कमी—औद्योगिक शिक्षा के संबंध में यहाँ समाज और राज्य यथोचित कर्तव्य-पालन नहीं कर रहे हैं, और शिल्प, कला-कौशल आदि की शिक्षा-संस्थाएँ इनी-गिनी हैं। जर्मनी, अमेरिका आदि देशों की तुलना में तो नहीं के बराबर ही हैं। औद्योगिक शिक्षा की कमी के कुछ मुख्य कारण ये हैं—

(क) यहाँ शिल्प का काम वैश्यों या शूद्रों के लिये परिमित

है। बहुधा उच्च जातिवालों को हाथ का काम करने में शर्म मालूम होती है।

(ख) एक पेशे का काम वंश-परंपरा से चलता है; दूसरे आदमियों को सिखाया नहीं जाता।

(ग) उत्पत्ति की रीतियों में भेद आ जाने से अब हाथ से कार्य करने की रीति उठती जा रही है।

(घ) जाति-पाँति के बंधनों तथा निर्धनता के कारण नवयुवकों को विदेशों में जाकर शिल्प-शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा नहीं है। अन्यान्य देशों में, ब्रिटिश-साम्राज्य के अंतर्गत देशों में भी, पराधीन भारतीय बड़े निरादर से रक्खे जाते हैं। ये सब दोष दूर करने का प्रयत्न होना चाहिए।

औद्योगिक शिक्षा कैसी हो?*—औद्योगिक शिक्षा के लिये सबसे पहली ज़रूरत यह है कि देश-भर में सब श्रेणी के बालकों को इस बात की शिक्षा दी जाय कि परिश्रम करना—हाथों से कमाना—बुरा नहीं है। प्राथमिक पाठशालाओं में फूल-पत्तियाँ लगाना सिखलाकर, चित्र-कला और नमूने बनाने (Modelling) की शिक्षा देकर परिश्रम और व्यावहारिक शिक्षा के प्रति प्रेम उत्पन्न कराया जाय। इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि देश में बड़ी-बड़ी प्रयोगशालाएँ खोली जायँ, जहाँ विद्वान् लोग दिन-रात खोज में लगे रहें। इस 'खोज' से उद्योग-धंधों को बड़ा लाभ पहुँचेगा।

स्वतंत्र-रूप से बढ़ई, लुहार, मेमार आदि दस्तकार (Craftsman) को अपनी आँखों और हाथों से काम लेना होता है। इनकी शिक्षा के लिये हर शहर और बड़े-बड़े देहातों में दक्ष मास्टरों-

---

* 'भारत की सांपत्तिक अवस्था' के आधार पर।

वाले स्कूलों की ज़रूरत है। इन शिक्षार्थियों को हाथ और आँख का इस्तेमाल और सँभाल बतलानी चाहिए, तथा नए-नए पैटर्नों (नमूनों) को समझना और उनके मुताबिक़ काम करना सिखलाना चाहिए।

बड़े-बड़े कारख़ानों या मिलों में काम करनेवालों के लिये अलग प्रबंध करना चाहिए। खानों के लिये उनके आस-पास ही स्कूल खोलना उचित है, वहाँ भू-तत्त्व-विद्या के साथ खान खोदने की व्यावहारिक शिक्षा दी जाय। धातुओं को गलाने और कल-पुर्ज़ा ढालने के लिये लोहे के कारख़ानों से संलग्न स्कूल उपयोगी हैं। इन सब प्रकार की शिक्षाओं में सरकार कारख़ानों को आर्थिक सहायता दे।

औद्योगिक शिक्षा-संस्थाएँ—इस देश में औद्योगिक शिक्षा की कमी दूर करने के लिये जगह-जगह शिक्षा-संस्थाएँ खुलने की आवश्यकता है। हर्ष की बात है कि कुछ समय से देश-भक्तों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है, और वे तन, मन, धन से इसका उद्योग कर रहे हैं। अन्यान्य संस्थाओं में प्रेम-महाविद्यालय, वृंदावन, एक ऐसे ही महानुभाव का लगाया हुआ वृक्ष है। दानवीर राजा महेंद्रप्रतापजी ने इसे २४ मई, सन् १६०६ ई० में स्थापित किया था। तब से यह राष्ट्रीय साहित्यिक शिक्षा के साथ-साथ औद्योगिक शिक्षा का प्रचार भी निरशुल्क कर रहा है।

पाठकों को औद्योगिक शिक्षा-क्रम का उदाहरण इस संस्था की पाठ-विधि से अच्छी तरह मिल सकता है। यहाँ तीन प्रकार की श्रेणियों द्वारा शिक्षा दी जाती है—

(१) विद्यालय-श्रेणियों द्वारा साहित्यिक शिक्षा के साथ दस्तकारी।
(२) शिल्प-श्रेणियों द्वारा शिल्प के साथ साहित्यिक शिक्षा।
(३) वाणिज्य-शिक्षा (Commerce)।

पहली रीति से शिक्षा देने के लिये बाल और प्रारंभिक श्रेणी के अतिरिक्त सात श्रेणियाँ हैं । इनमें हिंदी और अँगरेज़ी, गणित, विज्ञान, भूगोल, आलेख्य, अर्थ-शास्त्र, नागरिक धर्म (Civics) और इतिहास की शिक्षा दी जाती है । बढ़ई का काम, वस्त्र-कला और चीनी के खिलौने आदि बनाना, इन तीनों में से एक काम प्रत्येक विद्यार्थी को लेना पड़ता है । बाल और प्रारंभिक श्रेणियों को छोड़कर उपर्युक्त सब श्रेणियों की पढ़ाई एक-एक वर्ष की है । सातवीं श्रेणी मैट्रीक्युलेशन के बराबर है, परंतु औद्योगिक विषय की यहाँ विशेषता है ।

दूसरी रीति की शिल्प-श्रेणियाँ निम्न-लिखित हैं—(१) मिकेनिकल इंजिनियरिंग, (२) बढ़ई का काम, (३) दरी और ग़लीचा बुनना, (४) कपड़ा बुनना, (५) चीनी के खिलौने तथा बर्तन बनाना, (६) लोहे का ढालना, खराद और फ़िटिंग । इन श्रेणियों में इन विषयों के अतिरिक्त आवश्यकतानुसार हिंदी और गणित की भी शिक्षा दी जाती है । कुछ छात्र-वृत्तियों की भी व्यवस्था है ।

तीसरी प्रकार की श्रेणियों में शार्ट-हैंड (संक्षेप-लेखन), टाइपराइटिंग (Type-writing) और बुक-कीपिंग (Book-keeping) के साथ-साथ अर्थ-शास्त्र और नागरिक धर्म (Civics) की शिक्षा दी जाती है ।

इस प्रकार विद्यालय का उद्देश्य यह है कि पढ़े-लिखे आदमी श्रम से घृणा न करें, बरन् उसकी यथेष्ट महिमा जानें । साथ ही कारीगर भी निरे निरक्षर न रहें । निदान भावी नागरिकों की ज्ञानेंद्रियों और कर्मेंद्रियों का अथवा विशेषतया दिमाग़ और हाथों का समुचित सहयोग हो । यहाँ से सन् १९२२ तक २४० नवयुवक निकले हैं । ऐसी निश्शुल्क औद्योगिक संस्थाओं की देश में बड़ी ज़रूरत है ।

भारतवर्ष में श्रम-विभाग—ज्यों-ज्यों सभ्यता की वृद्धि होती है, मनुष्य औरों के साथ अपने यत्नों का फल मिलाकर काम करता है। फिर धीरे-धीरे कुछ आदमी एक ख़ास काम या उसके भी किसी ख़ास भाग को करने लगते हैं। भारतवर्ष में सीधे-सादे श्रम-विभाग की प्रथा बहुत समय से है। स्त्रियों का घर का काम करना, पुरुषों का बाहर आजीविका कमाना श्रम-विभाग ही है। शूद्रों से सेवा, वैश्यों से कृषि-व्यापार, क्षत्रियों से समाज-रक्षा, ब्राह्मणों से मानसिक कार्य लेने की व्यवस्था श्रम-विभाग का एक स्थूल स्वरूप है। आधुनिक कल-कारख़ानों में इसके बहुत सूक्ष्म भेद कर दिए गए हैं। उदाहरणवत् कपास के कारख़ाने में, कपास को ओटकर बिनौले अलग करने, रुई धुनने, सूत कातने और कपड़े बुनने के लिये कम-से-कम अस्सी प्रकार के भिन्न-भिन्न काम करनेवाले श्रमी होते हैं। प्रत्येक श्रमी का काम अपूर्ण होता और सबकी सहायता से पदार्थ तैयार होता है।

श्रम-विभाग से लाभ—(१) बहुधा एक पूर्ण कार्य को सीखना बहुत कठिन होता है। उसके एक अंश को थोड़े समय में सीखकर मनुष्य उसका विशेषज्ञ बन सकता है। (२) एक कार्य के किसी ख़ास अंश की ओर निरंतर ध्यान देते रहने से उस संबंध में नए-नए आविष्कार होने संभव हैं। (३) यदि भिन्न-भिन्न कार्य करने हों, तो उनके लिये भिन्न-भिन्न औज़ारों की ज़रूरत होती है, उन्हें उठाने और रखने में बड़ा समय लगता है ; साथ ही संभव है, भिन्न-भिन्न कार्य पृथक्-पृथक् स्थानों में होनेवाले हों। इस दशा में एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने में भी बहुत समय ख़र्च होगा। श्रम-विभाग से इस समय की बड़ी बचत हो जाती है। (४) कार्य को श्रमियों में उनके शारीरिक और मानसिक बल के अनुसार बाँटा जा सकता है। यदि श्रम-विभाग न हो, तो बहुधा एक कुशल

श्रम-विभाग का परिणाम—श्रम-विभाग से लाभ और हानियों पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि इस पद्धति में श्रमियों के कष्ट दूर करने, उनका समय बचाने और अधिक उत्पत्ति कराने की बड़ी क्षमता है। श्रम-विभाग में जिन थोड़ी-सी हानियों की आशंका है, वे दूर की जा सकती हैं। अतएव चाहिए तो यह था कि श्रम-विभाग से अत्यंत काम करनेवाले देशों में श्रमजीवी जन-समुदाय का जीवन बहुत-कुछ सुखमय होता। परंतु वास्तव में यह बात नहीं है। प्रायः पाश्चात्य देशों में उनका जीवन बड़ा कष्टमय हो रहा है; पूँजी और मज़दूरी के झगड़ों के कारण त्राहि-त्राहि का करुण स्वर सुनाई देता रहता है। इसका कारण पूँजीवालों का घृणित स्वार्थ है। उच्च भावनाओं के समुचित विकास हुए विना अधिक उत्पत्ति के साधनों से देश का समुचित कल्याण नहीं होता।

श्रम-संयोग—श्रम-विभाग की भाँति श्रम-संयोग से भी श्रम की उत्पादक-शक्ति बढ़ जाती है। मिलकर अनेक आदमियों के श्रम करने को श्रम-संयोग कहते हैं।

श्रम-संयोग दो प्रकार का होता है। एक शुद्ध, दूसरा मिश्रित। एक ही समय और एक ही स्थान पर जब बहुत-से आदमी मिलकर किसी एक ही प्रकार के काम को करते हैं, तब उनका श्रम शुद्ध श्रम-संयोग कहलाता है, जैसे नाव खेना, लकड़ी के बड़े-बड़े लट्ठे या भारी-भारी पत्थर आदि उठाना, किसी पेड़ को काटकर गिराना आदि।

जब किसी काम के लिये भिन्न-भिन्न समय और भिन्न-भिन्न स्थानों में बहुत-से आदमियों को तरह-तरह का कार्य करना होता है, तब उनके श्रम को मिश्रित श्रम-संयोग कहते हैं। उदाहरणार्थ, अख़बार के काम में संपादक, टाइप जोड़नेवाले कंपोज़ीटर, प्रूफ़ ठीक करने-वाले, स्याही देनेवाले, छापनेवाले आदि कई आदमी अपना-अपना भिन्न-भिन्न प्रकार का कार्य करते हैं, तब वह काम पूरा होता है।

मिश्रित श्रम-संयोग और श्रम-विभाग का भेद ध्यान में रख लेना चाहिए। मिश्रित श्रम-संयोग जुदा-जुदा पेशे या व्यवसायों के श्रमों को एक करता है, और श्रम-विभाग एक ही पेशे या व्यवसाय के श्रमों के अलग-अलग विभाग करता है।

श्रमजीवियों की कमी पर विचार—बहुधा पूँजी-पतियों को श्रमजीवियों की कमी की शिकायत होती है। भारतवर्ष में प्लेग, इंफ़्लुएंज़ा, मलेरिया, चेचक और हैज़ा आदि बीमारियाँ बहुत घातक कार्य करती हैं, प्रति वर्ष लाखों आदमी इनकी भेंट हो जाते हैं। इनमें बहुत-से श्रमजीवी होते हैं। परंतु इस बात से ही कि यहाँ अब मज़दूर पहली तनख़्वाहों पर नहीं मिलते, यह नहीं समझा जाना चाहिए कि उनकी कमी है। इस समय विविध ब्रिटिश उपनिवेशों में दस लाख से अधिक भारतीय श्रमजीवी काम कर रहे हैं, और प्रति वर्ष हज़ारों कुली, बहुधा झूठे प्रलोभनों में फँसकर, ठेके पर या स्वतंत्र रूप से वहाँ जाते हैं। यदि यहाँ उन्हें वर्तमान महँगी के अनुसार मज़दूरी मिले, तो यहाँ उनकी कुछ कमी प्रतीत न हो।

अछूत, जरायम-पेशा और फ़क़ीर—देश की जन-संख्या बहुत काफ़ी होते हुए भी यहाँ श्रमजीवी अपेक्षाकृत कम मिलते हैं। लगभग ५॥ करोड़ आदमी अछूत माने जाते हैं। यदि इनके प्रति मनुष्यत्व के विचारों से भ्रातृ-भाव रक्खा जाय, तो इनमें से बहुत-से आदमी अच्छे-अच्छे कामों में सहायक हो सकते हैं। आज उनकी दशा अच्छी नहीं, वे अशिक्षित और गंदे हैं, परंतु उनमें से कितनों ही ने ईसाई बनकर बड़ा सुधार कर लिया है। इससे यह स्पष्ट है कि उद्योग करने पर इनसे धनोत्पत्ति का अच्छा काम लिया जा सकता है।

भारतवर्ष की जरायम-पेशा जातियों के उद्धार की भी बड़ी आवश्यकता है। बीजापुर और शोलापुर के अनुभव से सिद्ध हो

गया है कि चोर और डाकू यथेष्ट परिस्थिति मिलने पर भले आदमी और उपयोगी नागरिक बन सकते हैं ।

पुनः हमारे फ़क़ीरों (बनावटी साधुओं) से भी देश के धनोत्पादन-कार्य में कुछ योग नहीं मिल रहा है । बहुत-से आदमी केवल मुफ़्त का खाने और मेहनत से बचने के लिये गेरुआ कपड़े पहन लेते हैं, अथवा यों ही फ़क़ीरी धारण कर लेते हैं। ये लोग साधारण गृहस्थों के लिये भार-रूप और देश की आर्थिक उन्नति में बाधक हैं । हर्ष की बात है कि अब सभा-समाजों में इस प्रश्न पर विचार हो रहा है कि इनका कैसे उत्थान हो और देश की आर्थिक उन्नति में इनसे कैसे सहायता मिले । आशा है, ये भी भारतीय श्रम की कमी को दूर करने में भाग लेंगे ।

तीसरा परिच्छेद

पूँजी

मूल-धन या पूँजी—भूमि के अतिरिक्त जो धन और अधिक धन पैदा या तैयार करने में लगाया जाय, वह मूल-धन या पूँजी (Capital) कहलाता है ।

सब मूल-धन तो धन होता है, परंतु सब धन मूल-धन नहीं कहा जा सकता । यदि एक मनुष्य के पास कुछ अन्न है और वह विना परिश्रम किए उस अन्न को खाता रहे, तो वह अन्न उसका धन तो है, पर मूल-धन नहीं कहा जायगा । हाँ, यदि वह इसका ख़र्च करते समय और धन-उत्पादन करने का कार्य कर रहा है, तो वह अन्न मूल-धन की गणना में आवेगा ।

यदि हम अपना धन किसी और को ब्याज पर उठा दें, तो उसमें कुछ कमी न होकर हमें उससे कुछ प्राप्ति होती रहेगी । इस दशा में भी हमारा धन मूल-धन ही कहलावेगा, यद्यपि

ब्याज पर देना उसका बहुत अच्छा उपयोग नहीं है। इससे हमारे साहस की कमी या जोखम का डर मालूम होता है।

धनोत्पत्ति में पूँजी का स्थान—एक किसान भूमि में केवल अपने श्रम से ही धन की उत्पत्ति नहीं कर सकता। भूमि और श्रम के अतिरिक्त उसे हल, बैल और बीज आदि की आवश्यकता है। ये चीज़ें उसकी पूँजी हैं। इसी प्रकार अन्य उदाहरण लिए जा सकते हैं। निदान, धन की उत्पत्ति में पूँजी एक आवश्यक साधन है।

पूँजी के द्वारा श्रम की बहुत बचत होती है। उदाहरणार्थ किसी स्थान से कुछ सामान ढोकर लाना है। बिना मूल-धन के उसे थोड़ा-थोड़ा करके कई बार में उठाना पड़ेगा। यदि कोई टोकरा हो, तो उससे बार-बार जाने का परिश्रम बचाकर दो-चार बार में ही सब उठाया जा सकता है। यदि और अधिक मूल-धन हो, तो गाड़ी से एक ही बार में सब सामान ला सकते हैं। यह गाड़ी बाद में भी बहुत समय तक सामान ढोने का काम देगी।

चल और अचल पूँजी—ख़र्च के हिसाब से पूँजी दो प्रकार की होती है—चल (Circulating) और अचल (Fixed)। जो पूँजी बहुत दिनों तक काम नहीं देती, एक ही बार के उपयोग में ख़र्च हो जाती है, उसे चल, अस्थायी या अस्थिर पूँजी कहते हैं; जैसे मज़दूरों को दिया जानेवाला वेतन, भट्ठी में काम आनेवाला कोयला, खेती का बीज आदि। जो पूँजी बहुत समय तक काम देती रहती है। एक ही बार के उपयोग में व्यय नहीं हो जाती, वह अचल, स्थायी या स्थिर पूँजी कहलाती है। इसमें शिल्प-शाला, यंत्र, औज़ार, रेल, जहाज़, खेती में काम करनेवाले बैल या घोड़े आदि की गिनती है।

चल पूँजी का बदला जल्दी और एकसाथ ही मिल जाता है। अचल पूँजी का बदला देर में और धीरे-धीरे मिलता है; जब

तक उसका उपयोग होता है, उसकी लागत तथा उससे होनेवाला लाभ वसूल होता रहता है। अचल पूँजी लगानेवाले को उसका प्रतिफल पाने के लिये बहुत समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इससे उसे प्रायः लाभ भी अपेक्षाकृत अधिक होता है।

आजकल औद्योगिक संसार में अचल पूँजी लगाने या चल पूँजी को अचल करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। एक काम पहले-पहल मज़दूरों से होता है। कुछ समय में उसके करने के लिये किसी मशीन का आविष्कार हो जाता है। तब मज़दूरों को दी जानेवाली चल पूँजी मशीन में लगा दी जाती है। इससे मज़दूरों की आवश्यकता कम रह जाती है; उन्हें वेतन कम मिलने लगता है। कुछ समय बाद मशीनों द्वारा अधिक माल तैयार होने पर यदि देश समृद्धि-शाली हो जाता है, तो मज़दूरों की दशा में कुछ सुधार होने लगता है।

मज़दूरों की दशा पर जिन-जिन बातों का प्रभाव पड़ता है, उनका वर्णन प्रसंगानुसार आगे किया जायगा।

किसानों की पूँजी *—हमारे देश के किसानों की नक़द पूँजी नहीं के बराबर है। ऋण के वास्ते इन्हें कड़ा सूद देना पड़ता है। जहाँ विलायत के किसान फ़ी-सैकड़े चार रुपए सूद के हिसाब से क़र्ज़ ले सकते हैं, वहाँ भारतवर्ष के किसान प्रायः आध आना फ़ी-रुपया फ़ी-माह (३७॥ रु० सैकड़े) के हिसाब से रुपए उधार लेकर भी अपने को धन्य समझते हैं। तिस पर भी देहातों में काफ़ी रुपया नहीं मिलता; क्योंकि देहातों के महाजन बनिए भी तो ग़रीब हैं। सहकारी बैंकों से, जिनका वर्णन अन्यत्र किया गया है, ग़रीब किसानों को कुछ लाभ हुआ है। अतएव उनके और

---

* 'भारत की सांपत्तिक अवस्था' के आधार पर।

अधिक विस्तार और प्रचार की आवश्यकता है। किसानों की अन्य पूँजी हल, फाल, खुरपी, कुदाली, पानी खींचने का चरसा आदि होती है। यह पूँजी ज़रूरत के अनुसार घटती-बढ़ती है। एक साधारण किसान के इस सामान के मूल्य का अनुमान ५-६ रुपए के लगभग हो सकता है। कभी-कभी किसानों के पास बैल-गाड़ी भी रहती है। फ़ुरसत के दिनों में वह हल के बैलों को इसी गाड़ी में जोतकर बोझ लादने का काम करता है।

बैल या भैंसे आदि पशुओं का वर्णन आगे किया जायगा। बीज, जो किसान खेतों में बोता है, और खाद, जो खेतों में डालता है, इनको शामिल कर लेने से किसानों की पूँजी का पूरा टोटल हो जायगा। बहुधा किसानों के पास खाने से कुछ बच ही नहीं सकता। उन्हें डेवढ़े या सवाए के क़रार पर महाजनों से बीज उधार लेना पड़ता है। ऐसे किसान बहुत कम मिलेंगे, जिनकी सब पूँजी अपनी है, और जो काम-चलाऊ पूँजी के अलावा भावी आवश्यकता के लिये कुछ जमा भी रख सकें।

पशु-पालन—अन्य उपयोगी पदार्थों की तरह पशु भी देश की बड़ी संपत्ति हैं। कृषि-प्रधान भारत के लिये तो इनका महत्त्व और भी अधिक है। बैल और भैंसे से ही यहाँ खेती होती है। इसके अतिरिक्त ये बोझ ढोते और सवारी ले जाते हैं। परंतु अन्य देशों की अपेक्षा भारतवर्ष पशु-धन में बहुत दरिद्र है। सन् १९१७ ई० में प्रति दस मनुष्यों के पीछे इँगलैंड में दस पशु थे, आस्ट्रेलिया में १७, अमेरिका में २४, फ्रांस में १३ और भारतवर्ष में केवल ७। खेद की बात है कि यहाँ बहुत-से किसान ऐसे भी हैं, जिनके पास बैल या भैंसों की एक भी जोड़ी अपनी नहीं है।

यहाँ पशुओं को प्रायः अस्वच्छ पानी तथा घटिया दर्जे का और कम चारा देकर उनकी आयु कम कर दी जाती है, उनके

श्रम तथा रोग की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जाता, उनके रहने की जगह अच्छी नहीं होती और उनकी नस्ल उन्नत करने का उपाय भी बहुत कम किया जाता है।

पशुओं की उन्नति के लिये दो सरकारी विभाग हैं। फ़ौजवाले उन पशुओं के पालने तथा नस्ल सुधारने का काम करते हैं, जो फ़ौजी रिसाले में लिए जाते हैं। सिविल-विभाग साधारणतः बैल, भैंस, भेड़, घोड़ा, ख़च्चर आदि पशुओं की उन्नति और चिकित्सा का प्रबंध करता है। कलकत्ता, बंबई, मदरास, लाहौर, रंगून में ऐसे डॉक्टरों और कर्मचारियों को शिक्षा दी जाती है। नैनीताल और बरेली में सरकारी प्रयोग-शालाएँ हैं, जहाँ पशुओं के रोग और उनकी चिकित्सा का अनुसंधान होता है। ज़िला-बोर्डों की तरफ़ से सब-डिवीज़नों में पशु-चिकित्सक रक्खे जा रहे हैं।

पशु-पालन से चारे का घनिष्ठ संबंध है। परंतु अब बहुत-से घनी बस्तीवाले स्थानों में पशुओं के चरागाह तक जोत डाले जाते हैं, और पशुओं को भर-पेट चारा नहीं मिल सकता। यद्यपि प्रत्येक हिंदू-गृहस्थ के लिये एक गाय रखना आवश्यक कर्तव्य है, परंतु वर्तमान अवस्था में यह कार्य बहुत ही कठिन हो गया है। बहुत-से आदमी चारे के अभाव में अपने गाय-बछड़ों को क़साई के हाथ नहीं बेचते, तो उसे किसी गोशाला या पिंजरा-पोल में छोड़कर उससे निश्चिंत हो जाते हैं। वास्तव में पशु-पालन के लिये चरागाहों की बड़ी आवश्यकता है। जंगलों में बहुत-सी घास बरबाद हो जाती है। उसे सरकारी फ़ॉर्मों की तरह संचय करने का प्रबंध होना चाहिए, तथा अन्य चारों को अधिकाधिक मात्रा में पैदा करने और उन्हें बचाकर रखने की चाल चलानी चाहिए।

गो-वंश का भयंकर ह्रास—भारतवर्ष में गाय बहुत आदरणीय है। कृषि अधिकतर गो-संतान (बैलों) पर ही निर्भर है। इसके

अतिरिक्त हिंदुओं के लिये घी-दूध से बढ़कर कोई पुष्टिकर पदार्थ नहीं। बच्चों, रोगियों और बूढ़ों के लिये तो गाय का दूध एक न्यामत है। प्राचीन काल में यहाँ दूध-दही की ऐसी बहुतायत थी कि अनेक स्थानों में इन चीज़ों को बेचना अनुचित कर्म समझा जाता था। मुसलमानों के समय में भी इन पदार्थों की विशेष कमी न हुई। अलाउद्दीन के शासन-काल में दूध फ़ी रुपया छः मन और घी २४ सेर बताया जाता है। अँगरेज़ों के यहाँ आने के बाद क्रमशः इन पदार्थों का दुःखदायी अभाव होने लग गया। देश का मक्खन निकलता जा रहा है; यहाँ अब छाछ भी काफ़ी नहीं होती।

भारतवर्ष में गउओं की कमी के मुख्य कारण ये हैं—(१) चमड़े के व्यापार के लिये लाखों गायें प्रति वर्ष मारी जाती हैं। यहाँ से बहुत-सी खालें विदेशों को भेजी जाती हैं, शेष यहाँ काम में लाई जाती हैं। (२) फ़ौजी गोरे गो-मांस खाते हैं। इनके वास्ते मि० जस्सावाला के हिसाब से डेढ़ लाख पशु प्रति वर्ष मारे जाते हैं। (३) मुसलमान गाय की कुर्बानी करते हैं। इनकी संख्या गोरों के लिये मारी जानेवाली गउओं की संख्या से बहुत कम है, और राष्ट्रीय जागृति होने से इसमें और भी कमी होती जाती है। (४) बहुत-सी अच्छी-अच्छी गउएँ विदेशों को ले जाई जाती हैं।

कहना नहीं होगा, गउओं की कमी के इन कारणों को दूर करने की अत्यंत आवश्यकता है। सरकार इस ओर कुछ ध्यान देती मालूम नहीं होती। यह भी जनता के असंतोष का एक अच्छा कारण है।

भारतवर्ष में पूँजी की दशा—यहाँ जन-साधारण के पास पूँजी बहुत कम है। अधिकांश आदमी 'जो आया, सो खाया' का हिसाब रखते हैं। जैसे-तैसे निर्वाह करना भी जिनके लिये बड़ा कठिन है, उनके पास जमा करने के लिये कुछ विशेष द्रव्य हो ही कैसे सकता है?

बहुत-से आदमी यदि चाहें, तो अपनी आय में से धीरे-धीरे थोड़ी-थोड़ी बचत करके उसे अधिक धनोत्पादन के कार्य में लगा सकते हैं। परंतु जिनके पास बचत थोड़ी-थोड़ी हो सकती है, उनमें से बहुत-से बचाते ही नहीं। कितने ही आदमी हानि की आशंका और साहस की कमी के कारण अपनी थोड़ी बचत से कुछ काम नहीं लेते, उसे घर पर ही नक़दी, धातु या आभूषण के रूप में रख छोड़ते हैं। यदि ये लोग अपनी पूँजी से अलग-अलग काम करें, तो इन्हें विशेष लाभ भी न हो। हाँ, यदि बहुत-से आदमी अपनी थोड़ी-थोड़ी पूँजी एकत्रित करके कोई कार्य करें, तो उस पूँजी की धनोत्पादक-शक्ति बढ़ सकती है।

हमारे कितने ही राजा-महाराजों तथा ज़मींदारों के पास कुछ धन है। यदि वे इसे व्यावसायिक कार्यों में लगावें, तो देश का बड़ा हित हो; परंतु इनमें बहुतों को अपनी शौक़ीनी तथा विलास-प्रियता से ही छुटकारा नहीं। इन सब कारणों से यहाँ पूँजी बहुत कम है।

इधर कुछ वर्षों से व्यवसायों में भारतीय पूँजी की मात्रा क्रमशः बढ़ती जा रही है। मिश्रित पूँजीवाली जो कंपनियाँ स्थापित हो रही हैं, उनकी पूँजी सब यहीं से एकत्रित होती है। अब लोग बैंकों में रुपया जमा कराने में अधिक उत्साहित पाए जाते हैं। बहुत-से छोटे-छोटे काम जो योरपियनों ने आरंभ किए थे, अब हिंदुस्थानियों के हाथ में हैं, जैसे ज़ीन, प्रेस, सोडा-वाटर या तेल की फ़ैक्टरियाँ आदि। सफलता से काम करनेवालों को पूँजी बढ़ाने में कठिनाई नहीं होती।

रेल, तार, डाक आदि का काम सरकार ने विदेशी पूँजी से किया है। मिलें, खनिज पदार्थों के निकालने के काम, जहाज़ आदि बनाने के कारख़ाने अधिकांश योरपियनों के हाथ में हैं। चाय तथा क़हवे की कारत एवं कोयले, आटे, बर्फ़, शक्कर तथा लोहे-

पीतल के सामान के कारख़ानों में हिंदुस्थानी और विलायती पूजी भिन्न-भिन्न मात्रा में लगी हुई है।

विदेशी पूँजी का प्रयोग—साधारणतया विदेशी पूँजी से भी धनोत्पादन करना लाभकारी होता है। परंतु यहाँ भारतवर्ष में विदेशी पूँजी का प्रयोग हमारे इच्छानुसार नहीं किया जाता। उस-के साथ उसे लगानेवाले विदेशी व्यवसायी भी आ जाते हैं। प्रथम तो हमें प्रायः सूद ही बहुत अधिक देना पड़ता है, फिर इन विदेशी व्यवसायियों का तो कुछ ठिकाना ही नहीं। वे बहुधा हमारी कारी-गरी को नष्ट करके अपना मनमाना व्यापार करते हैं; जिससे वे बेढब लाभ उठाते हैं। कहने को तो यह हो जाता है कि भारतवर्ष में विदेशी पूँजी के सहारे अमुक कारख़ाना नया खुल गया; परंतु हम नहीं कह सकते कि उस कारख़ाने को कहाँ तक 'भारतीय' कहना सत्य हो सकता है, जिसमें भारतीयों को कुलियों की मज़दूरी के अतिरिक्त कुछ विशेष प्राप्ति नहीं होती। तात्पर्य यह कि विदेशों से जो पूँजी आवे, उसका उपयोग यहाँवालों के हाथ से होना चाहिए; तभी भारत को कुछ लाभ हो सकता है। सरकार को ऋण कम सूद पर मिल सकता है। उसे चाहिए कि अपने नाम और ज़िम्मेदारी से रुपया उधार लेकर भारतीय व्यवसायों की सहायता करे। साथ ही, देश में जो धन हो, उसका भी यथेष्ट उपयोग किए जाने की ज़रूरत है।

कमीशन का मत—हाल में आर्थिक कमीशन ने, अपनी रिपोर्ट में, विदेशी पूँजी के संबंध में भी अपना विचार प्रकाशित किया है। कमीशन की रिपोर्ट में कहा गया है कि विदेशी पूँजी के यहाँ आने में कोई रुकावट न होनी चाहिए। विदेशी पूँजी से खोले जानेवाले कारख़ानों की, खुले या छिपे तौर से, सरकार सहायता न करे। परंतु यदि ये कारख़ानेवाले हिंदुस्थानी विद्यार्थियों को शिक्षा देने का वादा करें और अपने डाइरेक्टरों और हिस्सेदारों में हिंदुस्थानियों को

भी शामिल करें, तो इनके लिये कुछ सुविधाएँ की जा सकती हैं।

संकट की आशंका*—आर्थिक कमीशन ने, संकोच से ही क्यों न हो, बाहर से आनेवाले माल पर हिंदुस्थानी कारख़ानों की तरक़्क़ी के लिये, संरक्षण-कर बैठाने की आवश्यकता स्वीकार की है (इसका विशेष उल्लेख व्यापार-नीति के प्रसंग में किया जायगा)। यह कर कितना और कैसे बैठाया जायगा, यह अभी विचाराधीन ही है। परंतु व्यापारिक उन्नति की चाल में रहनेवाले विदेशी पूँजी-पति अभी से सावधान हो गए हैं। अमेरिका के करोड़-पति वहाँ की भारी मज़दूरी और मज़दूरों की मुँहज़ोरी से तंग आकर हिंदुस्थान में कारख़ाने खोलने की तैयारी कर रहे हैं। वहाँ की स्थापित और वहीं की रजिस्टर्ड 'इंटरनैशनल ट्रांसपोर्टेशन ऐंड डेवलपमेंट (International Transportation and Development) कंपनी ने भारतवर्ष में अपने दो कारख़ाने खोलने का निश्चय किया है—एक लकड़ी तथा लोहे की चीज़ें बनाने का और दूसरा दवा तैयार करने का। इस कंपनी की इच्छा मोटर बनाने की भी है, इसका यह कारख़ाना इतना बड़ा होगा कि उसमें एक दिन में तीन हज़ार मोटरें तैयार हो सकेंगी।

इसके यहाँ के कारख़ानों में जो माल तैयार होगा, केवल वही हिंदुस्थान में नहीं बिकेगा, बल्कि यह कंपनी अमेरिका में तैयार होनेवाली तरह-तरह की चीज़ों को बेचने के लिये यहाँ एजेंसी भी खोलेगी। इस समय जो विदेशी माल सौ रुपए में मिलता है, उसे यह, अमेरिकन सरकार की सहायता और प्रोत्साहन के कारण, पचास रुपए में ही बेचेगी; उस पर भी इसे विश्वास है कि १००-२०० सैकड़ा नफ़ा होगा। फिर यहाँ के कारख़ाने इससे कैसे टक्कर

---

* 'हिंदी-केसरी' के आधार पर।

जो सकेंगे, और अपना अस्तित्व किस प्रकार क़ायम रक्खेंगे? इसका विचार भारत-सरकार और जनता को करना चाहिए।

आर्थिक कमीशन की रिपोर्ट में प्रकाशित उपर्युक्त सुविधा से लाभ उठाने के लिये यह कंपनी अपने प्रास्पेक्टस में लिखती है कि हिंदुस्थानी विद्यार्थियों को शिक्षा देने का प्रबंध हम अपने कारख़ानों में करेंगे। यह स्पष्ट है कि हिंदुस्थान के कच्चे माल और सस्ती मज़दूरी से लाभ उठाने की इच्छा रखनेवाली यह कंपनी यहाँ के विद्यार्थियों को यथेष्ट शिक्षा नहीं देगी, अपना मतलब गाँठने के लिये कुछ दिखावटी कार्य भले ही कर दे। भारत-सरकार, देशी राज्यों और धनी व्यापारियों को उचित है कि स्वयं यहाँ के विद्यार्थियों को औद्योगिक शिक्षा देने की समुचित व्यवस्था करें।

विदेशी पूँजी से परतंत्रता—उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट होता है कि विदेशी पूँजी-पतियों से यहाँ के व्यापार के चौपट होने की आशंका है। इसके अतिरिक्त वर्तमान अवस्था में विदेशी पूँजी से देश की राजनैतिक पराधीनता भी बढ़ जाती है। अमेरिका के भूत-पूर्व राष्ट्रपति विलसन ने कहा है कि "जितनी ही विदेशी पूँजी देश में आकर लगती और रहती है, उतना ही विदेशियों का प्रभाव बढ़ता रहता है। इसलिये पूँजी की चालें विजय की चालें हैं।"

भारत-सरकार पर गोरे व्यापारियों का प्रभाव प्रसिद्ध है, उनके सामने प्रायः भारतवासियों के हिताहित का विचार नहीं होने पाता। जब कभी कोई राजनीतिक सुधार होने की बात उठती है, तो विदेशी पूँजीवाले हमारे भविष्य का निर्णय करने का अधिकार माँगते हैं। यदि अब अमेरिका या और कोई देश यहाँ उद्योग-धंधों में पूँजी लगावेगा, तो वह ऐसे अधिकार से कब वंचित रहना चाहेगा! उसके पूँजी-पति भी भारतवर्ष को पराधीन बनाए रखने में अँगरेज़ व्यापारियों से सहयोग करेंगे।

भारतवर्ष की राष्ट्रीय संपत्ति—वैयक्तिक और राष्ट्रीय संपत्ति की सूची बनाने में बहुधा लेखकों में बड़ा मत-भेद होता है, तथापि यह स्पष्ट है कि बहुत-सी चीज़ें वैयक्तिक संपत्ति न होने पर भी राष्ट्रीय संपत्ति में अवश्य सम्मिलित हो जाती हैं; जैसे सड़कें, पुल, नहरें, नदी-नाले, विविध सार्वजनिक मकान, शिक्षा-भवन, अजायब-घर, डाक, तार, रेल, बंदरगाह आदि ।

भारतवर्ष की राष्ट्रीय संपत्ति में यहाँ की जनता की संपत्ति के अतिरिक्त भारत-सरकार, प्रांतिक सरकार, स्थानीय स्वराज्य-संस्थाओं, म्युनिसिपल और लोकल बोर्डों, देहातों की पंचायतों और मंदिर, मसजिद, धर्मशाला आदि संस्थाओं की विविध संपत्ति सम्मिलित होनी चाहिए । इन सबके जोड़ में से वह रक़म घटा देनी चाहिए, जो भारतवर्ष में अन्य देशों की लगी हुई है, अर्थात् जो दूसरों को देनी है । इससे स्पष्ट है कि देश की कुल संपत्ति का हिसाब लगाना बहुत कठिन एवं विवाद-ग्रस्त है । सर राबर्ट गिफ़न ने १६०३ में कहा था कि कुल भारतीय धन (नहर, नदी, जंगल आदि सहित) का औसत मूल्य प्रति मनुष्य १० पौंड अर्थात् १५० रुपए है । एक दूसरे लेखक के हिसाब से सन् १६०० ई० में अमेरिका की संपत्ति का अनुमान फ़ी आदमी लगभग साढ़े तीन हज़ार रुपए था। अब दोनों ही देशों की संपत्ति बढ़ी होगी, परंतु अमेरिका की तुलना में भारत की संपत्ति की वृद्धि निस्संदेह बहुत ही कम हुई होगी । इस प्रकार जब कि पहले ही अमेरिका की संपत्ति फ़ी आदमी के हिसाब से भारत से तेईस गुनी के लगभग थी, तब अब न-मालूम कितने गुना हो गई होगी !

कुछ अर्थ-शास्त्रियों के मत से तो राष्ट्रीय साहित्य, वैज्ञानिक आविष्कार आदि के अतिरिक्त देश के निवासी भी राष्ट्रीय संपत्ति के हिसाब में सम्मिलित किए जाने चाहिए; क्योंकि ये भी अपने देश के धन को बढ़ाते हैं ।

भारत का संचित सोना-चाँदी—भारत के प्राचीन समय में संचित धन की कोई विश्वस्त रक़म ज्ञात नहीं हुई है। इसमें संदेह नहीं कि देश समृद्धि-शाली था। अन्य देशों के लोग भारत की अपेक्षा असभ्य अवस्था में थे और अपनी विविध आवश्यकताओं का सामान यहाँ से लेते और बदले में सोना-चाँदी देते थे। भारतवासियों की सब ज़रूरतें यहीं पूरी हो जाने के कारण इन्हें नक़द धन विदेश नहीं भेजना पड़ता था। इस प्रकार यहाँ अधिकाधिक धन, सोना-चाँदी और रत्न संचित होते जाते थे। इस 'सोने की चिड़िया' के वैभव को देखकर विदेशियों के मुँह में पानी भर आता था। आज यही अभागा भारत अपनी ज़रूरतों के लिये प्रति वर्ष असंख्य धन बाहर भेजता है। अस्तु। मिस्टर आर्नल्ड राइट ने हिसाब लगाया है कि यहाँ १८६४ से १९१४ तक कोई ६४॥ करोड़ पौंड के सोने और चाँदी की आमदनी (रफ़्तनी की रक़म मुजरा देकर) हुई। इसमें से कुछ हिस्सा तो टकसाल से रुपया बनकर बाहर निकला, कुछ सोने के ज़ेवर इत्यादि बनाने में ख़र्च हुआ, कुछ व्यवहार में आने से घिस गया और शेष—अधिकांश व्यवहार में नहीं है। वह या तो गाड़ दिया गया है, या धनी लोगों के ख़ज़ाने में है। इस अंश का परिमाण लेखक ने ४० करोड़ पौंड बतलाया है। यदि यह सच भी हो, तो ३२ करोड़ आदमियों के लिये ५० वर्षों में इतना जमा करना विशेष अभिमान की बात नहीं।

सर अरनेस्ट केबुल के अनुमान से भारतवर्ष में ५५ करोड़ पौंड का सोना और चाँदी संचित रक्खी हुई है। इसका अधिकांश भाग थोड़े-से धनवानों एवं राजा-महाराजों के पास है। पर बृहत्-संख्यक जन-साधारण के पास कुछ रुपए ही हैं और उन सब के गहनों आदि में उक्त रक़म का केवल एक चौथाई ही है। कुछ अर्थ-शास्त्रियों का कथन है कि यहाँ प्रति वर्ष औसत हिसाब से २ करोड़ ३० लाख पौंड का

सोना और चाँदी खप जाने से राष्ट्रीय संपत्ति की वृद्धि का अनुमान किया जा सकता है । ये अंक बड़े-बड़े होने पर भी यहाँ की ३२ करोड़ जन-संख्या के लिये बहुत मामूली और अन्य देशों की तुलना में बहुत ही कम हैं ।

भारतीय पूँजी की वृद्धि के उपाय—पूँजी संचय का फल है । यदि संचय न किया जायँ, तो पूँजी उत्पन्न न हो । पूँजी की वृद्धि के लिये जनता में संचय करने के भाव की वृद्धि करनी चाहिए । यह पूँजी की वृद्धि दो कारणों से होती है—दूरदर्शिता और अधिक धन-प्राप्ति की अभिलाषा । सभ्य, दूरदर्शी और विचारवान् आदमी अपनी बीमारी, वृद्धावस्था या महँगी आदि के समय का ध्यान रखते हैं और अपनी समस्त उपार्जित संपत्ति का उसी समय उपभोग न कर उसका कुछ भाग भावी आवश्यकताओं के लिये संचय करते हैं । इसी प्रकार कुछ आदमी इसलिये धन का संचय करते हैं कि उसे व्यापार आदि में लगाकर अधिक धन उत्पन्न कर सकें । उद्योगी और व्यापार-प्रधान देशों के निवासी स्वभाव से ही संचय करने लगते और अपने संचित धन को उद्योग-धंधों में लगाकर उसे अधिकाधिक बढ़ाते रहते हैं ।

असभ्यता अथवा अराजकता की दशा में मनुष्य संचय करना नहीं चाहते । जहाँ आदमी अधिकतर पारलौकिक विषयों का चिंतन करते और यही सोचते रहते हैं कि न-मालूम कब मर जायँ, वहाँ भी धन का विशेष संचय नहीं होने पाता ।

पूँजी की वृद्धि के लिये जनता में शिक्षा और शांति के अतिरिक्त मितव्ययिता और दूरदर्शिता के भावों का प्रचार होना चाहिए, ब्याह-शादी, नाच-रंग और जन्म-मरण आदि-संबंधी फ़िज़ूल-ख़र्ची की विविध रीति-रस्में हटनी चाहिए तथा खेती, उद्योग-धंधों, और वाणिज-व्यापार के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के बैंकों और कंपनियों के खोलने

की आवश्यकता है; जिनमें लोग साझीदारी के नियमों से अपने संचित द्रव्य को लगाने में उत्साहित हों। इनका विशेष विवेचन आगे किया जायगा।

चौथा परिच्छेद
व्यवस्था

व्यवस्था और उत्पत्ति—उत्पत्ति के तीन साधनों—भूमि, श्रम और पूँजी—का वर्णन हो चुका। परंतु उत्पादन-कार्य तभी संभव है, जब इन तीनों की समुचित व्यवस्था (Organisation) हो। अब तो बड़े-बड़े कारख़ानों द्वारा धनोत्पादन होने से व्यवस्था की आवश्यकता और भी बढ़ गई है। इसीलिये आधुनिक अर्थ-शास्त्र में इसे उत्पत्ति का पृथक् साधन माना जाने लगा है; पहले उत्पादक साधनों में इसकी गणना नहीं होती थी।

कुछ लेखक 'व्यवस्था' के स्थान पर संगठन-शब्द का व्यवहार करते हैं। प्रो० राधाकृष्ण झा ने ऐसा ही किया है। इसकी आवश्यकता के विषय में आपके कथन का सारांश इस प्रकार है *—

यह ज़माना बड़े-बड़े कारख़ानों और पुतलीघरों का है। बड़ी-बड़ी पूँजी लगाना, औज़ारों का प्रबंध और अनेक मज़दूरों की व्यवस्था करना साधारण आदमी का काम नहीं। इसके लिये विशेष योग्यता की ज़रूरत है। साझेदारी से इसमें बड़ा सुबीता हो जाता है, परंतु साझेदारी के सिद्धांतों पर पूँजी इकट्ठा करने और कार-बार चलाने के लिये उचित शिक्षा और पूरी ईमानदारी चाहिए। यह काम हर किसी के हाथ में नहीं जाने देना चाहिए। जिस तरह मामूली सिपाही जेनरल नहीं बन सकता, उसी तरह उद्योग-धंधों की सेना

---

* 'भारत की सांपत्तिक अवस्था' के आधार पर।

जैसे-तैसे रोज़गारियों के हाथों से संगठित नहीं हो सकती। इसके लिये एक विशेष योग्यता की ज़रूरत है।

उचित तो यह है कि अन्य शिक्षा की तरह लोगों को कार-बार की भी शिक्षा मिले। विश्व-विद्यालयों की पाठ-विधि में इसके सिद्धांत बढ़ाए जायँ, और पढ़ने पर युवक कंपनियों में जाकर काम सीखें। तब धीरे-धीरे कंपनियाँ खड़ी कर कार-बार शुरू करें।

बड़े-बड़े कारख़ानों के साथ देश में छोटे-छोटे रोज़गारियों की भी ज़रूरत है, और सदा रहेगी। इससे उचित है कि दोनों को उचित रूप से संगठित किया जाय। क्या कृषि में, क्या उद्योग-धंधों में, हर जगह मिल-जुलकर काम करने की ज़रूरत है। यदि कृषक मिल-जुलकर काम करें, पानी देने, खेत जोतने, फ़सल काटने की कलें ख़रीदें; धान कूटने, आटा पीसने की कल ले आवें; ईख पेरने की मशीन अपने पास रक्खें और सब मिलकर उससे काम लें, तो कैसा अच्छा हो और कितना लाभ हो! इसी तरह यदि छोटे-छोटे क़सबों में म्युनिसिपैलिटियाँ या दस रोज़गारी मिल-जुलकर एंजिन बैठावें और उसकी शक्ति से जल का प्रबंध करें, रोशनी करें और छोटी-छोटी चक्कियाँ या बढ़ई, लुहार, सुनार के औज़ार चलावें या लकड़ी चीरें, तो कितना लाभ हो!

व्यवस्था में प्रबंध का स्थान—व्यवस्था के अंतर्गत दो कार्य हैं—प्रबंध (Management) और साहस (Enterprise)। कल-कारख़ानों में पृथक्-पृथक् आदमी के श्रम के स्थान पर बहुत-से आदमियों को इकट्ठे काम करना पड़ता है। इस दशा में निरीक्षण या प्रबंध करनेवाले की ज़रूरत पड़ती है।

प्रबंधक सदैव यह विचारता रहता है कि उत्पादक साधनों से किस प्रकार तथा किस अनुपात में काम लिया जाय कि उत्पत्ति अधिक-से-अधिक हो। जो रीति या साधन महँगे होंगे, उसके

स्थान में वह सस्ते की खोज करके उन्हें बदल देगा। इस को अर्थ-शास्त्र में प्रतिस्थापन-सिद्धांत (Principle of substitution) कहते हैं। प्रबंधक इस बात का प्रयत्न करेगा कि उत्पत्ति के साधनों की सीमांत उत्पादकता (Marginal productivity) यथाशक्ति समान रहे। इसका अभिप्राय यह है कि कारख़ानों में भूमि, श्रम और पूँजी इतनी मात्रा में लगाई जायँ कि इनकी अंतिम इकाई की उत्पादकता समान हो।

प्रबंधक का कार्य निम्न-लिखित होता है—

(१) कारख़ाने में भिन्न-भिन्न प्रकार की आवश्यक योग्यता-वाले मनुष्यों को इकट्ठा करना और उनसे श्रम-विभाग एवं श्रम-संयोग के विकसित सिद्धांतों के अनुसार अधिकाधिक काम लेना।

(२) कारख़ाने की जायदाद का निरीक्षण करना और अच्छे, बढ़िया यंत्रों और औज़ारों का इस्तेमाल कराना।

(३) उत्पत्ति के भेद, मात्रा तथा समय का निश्चय करना।

(४) आवश्यक कच्चे पदार्थों को समय पर तथा उचित मात्रा में मोल लेना, तैयार माल को अच्छे मूल्य में बेचने का प्रबंध करना।

(५) व्यापार के उतार-चढ़ाव का पूर्ण ज्ञान रखना और उससे समुचित लाभ उठाना।

साहस—व्यवस्था के अंतर्गत प्रबंध के अतिरिक्त दूसरा कार्य साहस है। धनोत्पादन के लिये एक चीज़ बनाने या पैदा करने का विचार पहले किसी के मन में अवश्य आना चाहिए, और इस विचार को उसे कार्य-रूप में परिणत करने का साहस करना चाहिए। संभव है, दूसरे आदमियों को उसकी सफलता में संशय हो; अतः साहसी को अपने उत्पादन-कार्य के हानि-लाभ की जोखम उठानी पड़ती है।

कर सकता है। यदि साहसी के पास ये साधन न हों, तो वह अनुभवी, विश्वास-पात्र और मनुष्य-स्वभाव को परखनेवाला होने की दशा में भूमि, श्रम और पूँजी एकत्र कर सकता है।

इस प्रकार साहसी का काम पूँजी लगानेवालों के काम से पृथक् है। साहसी पूँजी उधार लेकर, अथवा कंपनियों की सहायता से, अपना काम चला सकता है; वह उस काम के संचालन और हानि-लाभ आदि की सब ज़िम्मेदारी तथा जोखम उठाता है। पूँजीवाले को कारख़ाने की सफलता या विफलता, उसके चलने या डूबने आदि से कुछ सरोकार नहीं; वह केवल अपना सूद लेने से नाता रखता है।

भारत में साहस की कमी—भारतवर्ष में इस साहस की बहुत कमी है। इसका एक कारण यह भी है कि बहुत-से आदमी बिना जोखम की और निश्चित आमदनी चाहते हैं। साहस का प्रतिफल अनिश्चित और अस्थिर होता है। जब किसी चीज़ के बनाने में कुछ हानि या लाभ हुआ, तो उसका धक्का या आनंद पहले साहसी को ही होगा। हाँ, पीछे वह भूमि, श्रम और पूँजी की मात्रा कम या अधिक करके इस धक्के या आनंद को धनोत्पत्ति के अन्य साधनों तक पहुँचा देगा।

यथेष्ट व्यावसायिक वृद्धि के लिये ऐसे आदमियों की ज़रूरत है, जो बड़े दिलवाले हों, कभी हानि भी सहना पड़े, तो हिम्मत न हारें और नवीन कार्यों के लिये सदा साहसी रहें।

उत्पत्ति के तीन क्रम—पहले कहा गया है कि आधुनिक समय में उत्पत्ति का अधिकांश कार्य कल-कारख़ानों द्वारा होने के कारण व्यवस्था अर्थात् प्रबंध तथा साहस की आवश्यकता बहुत बढ़ गई है, अतः व्यवस्था-संबंधी अन्य बातों से पूर्व हमें विचारना यह चाहिए कि इस कल-कारख़ानों के ज़माने से पहले धनोत्पत्ति किस

तरह होती थी, अथवा अब भी इनके अभाव में वह किस तरह होती है।

धनोत्पादन के प्रायः तीन क्रम होते हैं—

(१) स्वावलंबी समुदायों का ज़माना,

(२) कारीगरों का ज़माना—छोटी मात्रा की उत्पत्ति,

(३) कारख़ानों का ज़माना—बड़ी मात्रा की उत्पत्ति।

प्रारंभिक अवस्था में सभी देशों में पहला क्रम होता है। धीरे-धीरे दूसरे और तीसरे का आगमन होता है। पाश्चात्य देशों में तीसरे क्रम की बहुतायत है। भारतवर्ष में इसका अभी प्रारंभ हुआ है।

स्वावलंबी समुदाय—प्रारंभिक काल में मनुष्य प्रायः गाँवों में रहते हैं। प्रत्येक गाँव के रहनेवाले बहुधा अपनी आवश्यकताओं के पदार्थ स्वयं पैदा करते हैं, उनके लिये बाहर के आदमियों पर निर्भर नहीं रहते। इस अवस्था में तीन श्रेणियों के मनुष्य रहते हैं—

(१) किसान, जो खेती करते हैं,

(२) मज़दूर, जो किसानों के लिये काम करते हैं,

(३) कारीगर, जो नित्य व्यवहारोपयोगी वस्तुएँ बनाते और टूटी-फूटी चीज़ें सुधारते हैं, और नौकर, जो इन सब कामों में सहायता पहुँचाते हैं। इन सबके कामों से वहीं-की-वहीं एक-दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहती है। इस व्यवस्था का सबसे अच्छा उदाहरण भारतवर्ष की प्राचीन ग्राम्य संस्थाएँ हैं।

भारतवर्ष की ग्राम्य संस्थाएँ *—यहाँ चिरकाल तक ग्राम्य संस्थाओं का प्रभुत्व रहा। ये संस्थाएँ सभी अंगों से पूर्ण तथा स्वावलंबी होती थीं। हर गाँव में कुछ पुश्तैनी कार्य-कर्ता होते थे; जैसे पंडित, पुजारी, पहरेदार, महाजन, सुनार, तेली, नाई, बढ़ई,

---

* 'भारत की सांपत्तिक अवस्था' के आधार पर।

लुहार, धोबी, जुलाहा, कुम्हार, चमार, भंगी और बहुधा भिखारी आदि भी। वहाँ न तो सहज ही में कोई नया पेशेवाला आकर बस सकता था, और न गाँववालों ही को दूसरी जगह से चीज़ें मँगाने की चाह रहती थी। जो चीज़ गाँव में नहीं मिल सकती थी, वह बाज़ार-हाट लगने के समय मिल जाती थी। ऐसी हाट सप्ताह में एक या दो बार, कई गाँवों के किसी केंद्रस्थ स्थान में, लगती थी। फिर तीर्थ-स्थानों पर साल में एक-दो बार मेले लगते थे, जहाँ दूर-दूर के व्यवसायी तथा व्यापारी इकट्ठा होकर ख़रीद-फ़रोख़्त करते थे।

अब लोग गाँवों में रहकर अपनी पुरानी चाल पर चलना निंदनीय समझने लगे हैं। विविध पेशेवरों के लड़के स्कूलों में थोड़ी-थोड़ी तालीम पाकर नौकरी के लिये भटकते फिरते हैं। उन्हें अब पैतृक व्यवसाय करते शर्म मालूम होती है, उन्हें शहरों में रहना और 'बाबू' बनना पसंद है। फिर अब गाँवों के विविध पेशेवरों की खेती के अतिरिक्त कुछ अच्छी रोज़ी भी तो नहीं रही है। कल-कारख़ानों, रेलों और जहाज़ों के प्रभाव से सारी दुनियाँ का बाज़ार एक हो गया है। इससे अब भारत के गली-कूचों, गाँव-गँवई में भी मिलों का बना हुआ कुछ स्वदेशी, परंतु अधिकांश विदेशी माल दिखाई देता है। जब गाँववालों का अपनी रोज़ी से पेट नहीं भरता, तब लाचार होकर वे या तो शहरों में जा नौकरी तलाश करते हैं, अथवा वहीं गाँव में रहकर कुछ पुश्तैनी व्यवसाय से और कुछ खेती से जीवन-निर्वाह करते हैं। इस प्रकार हमारे व्यवसायियों का पुश्तैनी हुनर मिट्टी में मिलता जाता है। कहीं-कहीं उन्हें देश छोड़ शर्त-बँधे कुलियों का भी काम करना पड़ता है। अतएव उनकी आत्मा, चरित्र, स्वभाव आदि का पतन स्वाभाविक ही है।

कारीगरों का ज़माना—उत्पत्ति का दूसरा क्रम कारीगरों (Artisans) का ज़माना है। इसमें प्रत्येक कारीगर या उसका परिवार स्वतंत्र रूप से अपना काम करता है। उसका वह स्वयं निरीक्षक या प्रबंधकर्ता होता है। वह अपनी ही पूँजी लगाता अथवा सूद पर उधार लेकर काम चलाता है। जो वस्तु वह बनाता है, उसका वही मालिक होता है। उसे वह अपने नगर में अथवा दूर भेजकर बेच डालता है। इस दशा में उत्पत्ति छोटी मात्रा में होती है।

भारतवर्ष की स्थिति—मुसलमानों के शासन-काल तक यहाँ बहुत-सी दस्तकारियों की बड़ी उन्नति हुई। १८वीं शताब्दी तक भारतवर्ष से बढ़िया-बढ़िया माल बाहर जाने के कारण यहाँ का हरएक नगर दूर-दूर के देशों में किसी-न-किसी ख़ास चीज़ के लिये प्रसिद्ध हो गया था। अब मशीनों के युग में वे बातें हवा हो गईं, तथापि भारतवासियों के औद्योगिक जीवन में हाथ की दस्तकारियों का बड़ा स्थान है। सन् १९११ ई० की मनुष्य-गणना के समय यहाँ के ३१॥ करोड़ मनुष्यों में से केवल ३५३ लाख मनुष्यों की आजीविका उद्योग-धंधों पर निर्भर थी। इनमें से १७० लाख वास्तविक कार्य करते थे, और शेष इनके आश्रित थे। इन १७० लाख में से मिलों और कारख़ानों में काम करनेवालों की संख्या केवल ८३ लाख थी। तीस वर्ष की उन्नति के पश्चात् भी इस संख्या का इतना होना यहाँ के छोटे-छोटे व्यवसायों के महत्त्व का स्पष्ट प्रमाण है।

छोटी मात्रा की उत्पत्ति से लाभ-हानि—लाभ ये हैं—

(१) व्यवसाय-पति स्वयं सारे काम का निरीक्षण करता है, हड़ताल नहीं होने पाती, और बहुत हिसाब-किताब नहीं रखना पड़ता; इससे उत्पादन-व्यय में बचत होती है।

(२) छोटी मात्रा में उत्पत्ति करनेवाले व्यवसायियों की संख्या

बहुत-सी होने के कारण धन के वितरण में बहुत समानता रहती है; जो सामाजिक दृष्टि से बहुत उपयोगी है ।

(३) बड़ी मात्रावाले देशों में राजनीतिक स्वतंत्रता होने पर भी सामाजिक पराधीनता बनी रहती है । यह बात छोटी मात्रा की उत्पत्ति की दशा में नहीं रहती ।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के जो लाभ आगे बताए गए हैं, वे छोटी मात्रा में नहीं हो सकते । इसके अतिरिक्त छोटे-छोटे व्यवसायों में सुयोग्य व्यवसाय-पति को अपनी विशेष कुशलता से पूर्ण लाभ उठाने का अवसर नहीं मिलता, और उत्पत्ति का अनुपात अपेक्षा-कृत कम होता है । रेल, जहाज़ आदि बनाने के बड़े कारख़ाने छोटी मात्रा की उत्पत्ति में नहीं हो सकते ।

कल-कारख़ानों का ज़माना—उत्पत्ति के दो क्रमों का वर्णन हो चुका । स्वावलंबी समुदाय और कारीगरों के ज़माने के संबंध में इतना हाल जान लेने पर अब हमें उत्पत्ति के तीसरे क्रम पर विचार करना है । यह कल-कारख़ानों का ज़माना है । इसमें मज़दूर अपने लिये कोई वस्तु नहीं बनाते ; वे हज़ारों-लाखों की संख्या में इकट्ठे होकर एक पूँजीवाले व्यक्ति या कंपनी के अधीन काम करते हैं । जो सामान बनता है, उस पर कारख़ानेवाले का प्रभुत्व है ; मज़दूरों को केवल उनके काम की मज़दूरी मिल जाती है । इस दशा में बड़ी मात्रा की उत्पत्ति होती है । आधुनिक व्यावसायिक जगत् के उन्नत देशों में कल-कारख़ानों का विस्तार बढ़ता जा रहा है, और इन बड़े-बड़े कारख़ानों की संख्या भी बढ़ रही है ।

मशीनों का प्रयोग—कल-कारख़ानों के ज़माने में बड़ी मशीनों का प्रयोग किए बिना बड़ी मात्रा की उत्पत्ति नहीं होती । इसलिये बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के लाभ-हानि पर विचार करने से पहले मशीनों के लाभ-हानि पर विचार करना आवश्यक है ।

मशीनों से सबसे बड़ा लाभ यह है कि वे श्रम की उत्पादकता बहुत बढ़ा देती हैं। उनसे काम लेने में श्रम-विभाग के लाभ चरम सीमा तक मिल जाते हैं।

आजकल पाश्चात्य देशों में मशीनों का विविध कामों में बहुत प्रयोग होता है। कपड़े बुनना, मानवी आवश्यकताओं तथा फ़ैशन का तरह-तरह का सामान बनाना, खेतों की सिंचाई करना, खाद तैयार करना, बीज बोना, फ़सल काटना, इमारत बनाना, युद्ध में हत्याकांड रचना आदि सब काम मशीनों से होते हैं। पाश्चात्य देश बड़े धनी तथा समृद्धिशाली प्रतीत होते हैं। परंतु स्मरण रहे कि उनका वह बढ़ा हुआ धन मुट्ठी-भर धनी लोगों के हाथ में है; जिनका असंख्य मज़दूरों से झगड़ा बराबर बढ़ता जा रहा है। रूस, जर्मनी, इँगलैंड आदि देशों के पूँजी और श्रम के युद्ध को देखकर यह स्पष्ट है कि ये देश बहुत मात्रा की उत्पत्ति और मशीनों के बेढब शिकार हो रहे हैं। यद्यपि वे अपनी स्थिति को सुधारने के लिये बहुत प्रयत्नशील हैं, वहाँ बोल्शेविज़्म, साम्यवाद, मज़दूर-संगठन आदि कई आंदोलन हो रहे हैं, तो भी अभी तक संतोष-जनक मीमांसा नहीं हुई है।

मशीनों से हानियाँ*—मशीनों से बहुत-सी हानियाँ हैं। उन-में से मुख्य-मुख्य ये हैं—

(१) मशीनों ने मनुष्यों का स्थान ले लिया है। आदमियों की बेकारी बढ़ती जाती है; समाज और शासन-प्रणाली के सिद्धांतों में बड़ा भेद हो रहा है; यंत्रों द्वारा श्रम की बचत होती है, तो मनुष्य-जाति का घात भी होता है।

(२) मशीनों से आजकल सामान अपनी आवश्यकता से

---

* "ज्योति" के एक लेख के आधार पर।

अधिक बना लिया जाता है, और उसे दूसरे देशों के सिर मढ़ने के लिये शस्त्रों के बल वहाँ प्रभाव-क्षेत्र (Spheres of influence) बनाए जाते हैं। भिन्न-भिन्न व्यापारिक देश किसी एक स्थान को अपना प्रभाव-क्षेत्र बनाने के लिये आपस में स्पर्द्धा और युद्ध करते हैं। फिर शांति कहाँ ? और, यदि मशीनों से बनी हुई वस्तुएँ विदेशों में न भेजी जायँ, तो बहुत समय तक उनमें रुपया अटका रहे और माल ख़राब होने तथा घाटा रहने की आशंका हो।

(३) मशीनों का इस्तेमाल करनेवाले देशों में पूँजी और मज़दूरी के झगड़ों तथा द्वारावरोध और हड़तालों के भयंकर दृश्यों का दुःखदायी अनुभव होता है। पुनः उनमें स्वाधीन कारीगरों की गुज़र नहीं हो सकती। उन्हें कारख़ानों में जाकर मज़दूरी करनी पड़ती है। स्वाधीन पेशेवरों का अपने काम को छोड़कर मज़दूरों की संख्या बढ़ाना बहुत निंदनीय है।

(४) मशीनों और मिलों के होने से घनी बस्तियों में रहना पड़ता है; जिनकी आब-हवा अच्छी नहीं होती। भभकती आग, घना धुआँ, ज़हरीली गैस और पानी के संपर्क से जनता थकी-माँदी, दुर्बल और रोगी रहती है। सुंदर वस्त्र पहनने को मिल जाते हैं, परंतु शरीर सुंदर नहीं रहते। मिलों के मालिक स्वास्थ्य-रक्षा के हेतु बहुधा प्राकृतिक दृश्यों से घिरी झोपड़ियों में जाकर रहते हैं। पर मज़दूर क्या करें ?

(५) मिलों में बहुत-से निम्न श्रेणी के पुरुषों और स्त्रियों को एक ही स्थान पर काम करना पड़ता है। वे सत्संग-विहीन होते हैं, गंदे भाषण और व्यवहार करते हैं, मद्य-पान आदि व्यसनों में फँसते हैं; और क्रमशः दुराचार के गड्ढे के अधिकाधिक निकट होने से जल्दी या कुछ देर में वे पतित हो जाते हैं। इस प्रकार पवित्र प्रेम,

सदाचार और स्वामि-भक्ति का नाश करनेवाली मशीनें सचमुच शैतान की आँतें हैं।

(६) मिलों में रहनेवाले स्त्री-पुरुष अपने संबंधियों से दूर होते हैं ; वे गृहस्थी के सुखों से वंचित तथा यथेष्ट कर्तव्य-पालन करने में असमर्थ रहते हैं। माता-पिता अपनी संतान के पालन-पोषण और शिक्षण की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं देते। बहुत-सी गर्भवती स्त्रियाँ बच्चा जनने के समय से कुछ ही पूर्व तक कठोर काम करती रहती हैं, और बाद में भी यथोचित सेवा-सुश्रूषा नहीं पातीं । ऐसी दशा में कल-कारख़ानेवाले देशों की भावी जनता के भविष्य के अंधकारमय होने में क्या संदेह है ?

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से लाभ—

(१) बड़ी मात्रा में उत्पत्ति करनेवाले को छोटी मात्रा में उत्पत्ति करनेवालों की अपेक्षा पदार्थ अधिक ख़रीदने पड़ते हैं, और वे उन्हें सस्ते मिलते हैं।

(२) बड़े-बड़े इंजीनियरों, प्रबंध-कर्ताओं, वैज्ञानिकों, विशेषज्ञों, मकानों तथा मशीनों से काम लिया जाता है । इनका व्यय उस अनुपात से बहुत कम बढ़ता है, जिससे काम की वृद्धि होती है।

(३) बड़ी-बड़ी कंपनियों को पूँजी पर सूद बहुत कम देना पड़ता है।

(४) श्रम-विभाग के अनुसार सब कर्मचारी विशेष योग्यता के रक्खे जाते हैं, और उनमें से प्रत्येक से उसकी योग्यता के अनुसार काम लेकर पूरा लाभ उठाया जाता है।

(५) बड़ी मात्रा की उत्पत्ति करनेवाले आदमी बड़े-बड़े पूँजी-पति (Capitalists) तथा एकाधिकारी (Monopolists) बन जाते हैं।

हैं। इसके लिये उन्हें पुरस्कार भी मिलता है। इस पद्धति से मिलों के संचालक श्रमजीवी एकत्र करने की चिंता से मुक्त रहते हैं, परंतु श्रमजीवी प्रायः एक लोभी आदमी के अधीन हो जाते हैं। मज़दूरों को यहाँ इँगलैंड की तरह साप्ताहिक वेतन नहीं मिलता और उन्हें बहुधा अपनी दैनिक आवश्यकताओं के लिये ऋण लेना पड़ता है। वेतन बहुधा बक़ाया रक्खा जाता है, और महीना पूरा होने से हफ़्तों पीछे चुकाया जाता है। बालकों से भी काम लिया जाता है, जब कि चाहिए यह था कि वे खुली हवा में स्वतंत्र जीवन व्यतीत करते। इससे नवयुवकों के शरीर का बड़ा ह्रास होता है।

कारख़ानों का क़ानून—कारख़ानों का पहला क़ानून सन् १८८१ ई० में पास हुआ। इसका संशोधन सन् १८६१ में और रिपील सन् १६११ के ऐक्ट से हुआ। क़ानून में कारख़ाना या फ़ैक्टरी उसे कहा गया है, जहाँ साधारणतः ५० या अधिक आदमी काम करें और भाप, पानी या दूसरी शक्ति से काम लिया जाता हो। यह क़ानून रुई-घर, ज़ीन-घर, शक्कर और ग्लास आदि मौसमी कारख़ानों पर भी लगता है, जहाँ साल-भर में कम-से-कम चार महीने काम होता है; पर चाय या क़हवे की काश्त पर नहीं लगता।

औरतों के काम करने की अवधि (अधिक-से-अधिक) ११ घंटे की गई। बालक-मज़दूर की आयु कम-से-कम ६ वर्ष निश्चित की गई, और ६ और १४ वर्ष के बीच की आयुवालों से अधिक-से-अधिक ७ घंटे प्रतिदिन काम लेने का नियम हुआ। हर मज़दूर के लिये साप्ताहिक छुट्टी तथा बीच में प्रतिदिन आध घंटे के अवकाश का प्रबंध किया गया। बच्चों और स्त्रियों से प्रातःकाल साढ़े पाँच बजे से पहले और सायंकाल ७ बजे के अनंतर काम लेने का निषेध हुआ, परंतु ज़ीन-घरों में स्त्रियाँ रात्रि में काम कर सकती हैं। मशीन के चारों ओर घेरा या बाड़ लगाने की आज्ञा हुई। प्रांतिक

सरकारों को अधिकार दिया गया कि वे पानी, रोशनी, हवा, सफ़ाई आदि के समुचित प्रबंध के लिये तथा बहुत-से मनुष्यों का थोड़ी-सी जगह में इकट्ठा होना रोकने के लिये स्वास्थ्य-संबंधी नियम बनावें। इस क़ानून के प्रचलित होने से पहले कलेक्टर, सिविल सर्जन आदि ही कारख़ानों के निरीक्षण का भी काम करते थे। पर इस नियम से भारत-मंत्री ने एक मुख्य और चार सहायक निरीक्षक बंबई-प्रांत के लिये, एक मुख्य और दो सहायक निरीक्षक बंगाल-प्रांत के लिये और एक-एक निरीक्षक बर्मा, मदरास, संयुक्त-प्रांत, पंजाब और मध्य-प्रांत के लिये इस वास्ते नियत किए कि वे केवल कारख़ानों के निरीक्षण का ही काम करें। सरकारी नियमों का पालन कराने के लिये उन्हें अधिक अधिकार भी दिए गए।

सन् १९२२ ई० का क़ानून—अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर-कानफ़्रेंस के मंतव्यों के अनुसार गत वर्ष फ़ैक्टरी-ऐक्ट में पुनः सुधार हुआ है। उसके अनुसार—

(१) अब बीस आदमियों से काम लेनेवाले कारख़ानों पर भी, अगर वहाँ मशीन से काम लिया जाता हो, यह क़ानून लागू होगा। प्रांतिक सरकारों को अधिकार है कि उन कारख़ानों को भी, जहाँ दस या अधिक आदमी काम करते हों, इस क़ानून के अंदर घोषित कर सकती है।

(२) अब काम करने के लिये बच्चों की कम-से-कम उम्र १२ वर्ष निश्चित कर दी गई है।

(३) अब बच्चों से अधिक-से-अधिक ६ घंटे काम लिया जा सकता है। उन्हें औसत से हर साढ़े पाँच घंटे में आध घंटे का अवकाश देना आवश्यक है, तथा उनसे लगातार चार घंटे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता।

(४) सबके लिये काम करने का अधिक-से-अधिक ६० घंटे का

सप्ताह नियत है, और किसी एक दिन में ११ घंटे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता।

(५) स्त्रियाँ और १८ वर्ष से कम आयु के लड़कों को जोखम के कुछ काम करने का निषेध है।

(६) कारख़ाने के मालिक पर अपराध में ५००) तक जुर्माना हो सकता है।

(७) चोट-चपेट लगने पर आहत मज़दूरों को दान, और चोट-चपेट के कारण मर जाने पर उसके कुटुंब के लिये कुछ धन की व्यवस्था कर दी गई है।

श्रमजीवियों की उन्नति—श्रमजीवियों के हितार्थ और भी कई सुधारों की आवश्यकता है—

(१) सन् १६१७ ई० से देश में अनिवार्य शिक्षा-प्रचार करने का प्रस्ताव स्वीकृत हो चुका है, परंतु इसकी विशेष व्यवस्था केवल बंबई-प्रांत में ही की जा रही है। अन्य प्रांतों को भी इस ओर अग्रसर होना चाहिए। मज़दूरों के लिये यथेष्ट स्कूलों के अतिरिक्त पुस्तकालय और वाचनालय भी ज़रूरी हैं।

(२) उनके रहने के लिये स्वास्थ्य और मकान आदि का उचित प्रबंध करना है। जहाँ मिलें नगर के बाहर हों और स्थान काफ़ी हो, वहाँ, उनके लिये, एक मंज़िल के ग्रामों की तरह सादे मकानों की सहज व्यवस्था हो सकती है। इस काम के लिये मिलों के निकट भूमि प्राप्त करने में सरकार को पूँजी-पतियों की सहायता करनी चाहिए, और कुछ नियमों के अनुसार श्रमजीवियों की बस्तियाँ बनाने की आज्ञा देनी चाहिए।

(३) बहुत-से मज़दूरों को ऋण लेने की बुरी आदत पड़ जाती है। महाजन इससे अनुचित लाभ उठाते हैं। इनसे उनकी रक्षा की आवश्यकता है। कारख़ानों के अधिपतियों को चाहिए कि

श्रमजीवियों के लिये आवश्यक और अच्छी वस्तु, साधारण दर से देने का, किसी ख़ास महाजन को ठेका दे दें। सहयोग-समितियों से उनका बड़ा उपकार हो सकता है।

(४) मज़दूरों के दिल-बहलाव और खेल-कूद का तथा उन्हें शराब और जुए आदि की बुरी आदतों से बचाए रखने का भी प्रबंध होना चाहिए। रोगियों के लिये चिकित्सा और बुढ़ापे के लिये प्रोविडेंट फ़ंड की व्यवस्था आवश्यक है। बंबई की 'सोशल सर्विस लीग' तथा पूना की 'सर्वेंट्स आफ़ इंडिया सोसाइटी' आदि संस्थाएँ मज़दूरों की उन्नति का अच्छा प्रयत्न कर रही हैं। ऐसी परोपकारिणी संस्थाओं की संख्या तथा कार्य-क्षेत्र बढ़ना चाहिए।

(५) मज़दूरों (और किसानों) के स्वत्वों की रक्षा के लिये उनके संगठन की बड़ी आवश्यकता है। इसका विवेचन अन्यत्र किया गया है।

पूँजी और श्रम का हित-विरोध—आधुनिक औद्योगिक संसार में पूँजी और मज़दूरी का संघर्ष बढ़ता जा रहा है। द्वारावरोध और हड़ताल मामूली बात हो गई हैं। उदाहरणार्थ हम जनवरी, सन् १९२३ ई० के 'लेबर गज़ट' से उन औद्योगिक झगड़ों (Industrial disputes) के ब्यौरे का सारांश देते हैं, जो केवल बंबई-प्रांत में ही सन् १९२२ ई० में हुए।

उक्त वर्ष में १४३ झगड़े हुए। इनमें १,८१,७३३ श्रमजीवी सम्मिलित थे। इस समय की एक विशेषता यह थी कि शोलापुर की छः मिलों के मालिकों ने १८,००० श्रमजीवियों के विरुद्ध द्वारावरोध किया था। इस वर्ष कुल ७, ५६, ७४७ दिन, अर्थात् प्रति श्रमजीवी के औसत से चार दिन से अधिक, के काम की हानि हुई।

इन झगड़ों में से ४९ फ़ी-सदी का कारण वेतन का प्रश्न था, १५ फ़ी-सदी का बोनस, १४ फ़ी-सदी की बरख़ास्तगी या पुनः

नियुक्ति आदि व्यक्ति-गत असंतोष था, १० फ़ी-सदी की छुट्टियाँ और काम के घंटे और १६ फ़ी-सदी के अन्य विविध कारण थे।

इन झगड़ों की कुछ विशेष बातें ये थीं—

(क) अधिकांश हड़तालों में पहले से कोई सूचना नहीं दी गई।

(ख) हड़ताल से पहले असंतोष का कोई निश्चित कारण न था। बाद में कई-कई कारण बताए गए।

(ग) श्रमजीवियों के अधिकारों को सूचित करने और किसी समझौते की शर्तों का स्वागत करने के लिये यथेष्ट संगठन का अभाव रहा।

बंबई में रुई का व्यवसाय मुख्य है, इसलिये वहाँ ८४ फ़ी-सदी झगड़े इसी में हुए। हिसाब से मालूम होता है कि ७२ फ़ी-सदी का फ़ैसला कारख़ानेवालों के पक्ष में हुआ, १४ फ़ी-सदी का श्रमजीवियों के पक्ष में और ११ फ़ी-सदी में समझौता हो गया।

हित-विरोध-नाशक उपाय—द्वारावरोध और हड़तालों से मालिक और मज़दूर, दोनों का ही नुक़सान है। जनता के भी दुःखों का अंत नहीं। धनोत्पत्ति में भी ये बहुत बाधक हैं। इनसे बचने के लिये पूँजी और श्रम के पारस्परिक हित-विरोध को दूर किया जाना चाहिए। जिन उपायों से योरप और अमेरिकावालों ने इस बात में सफलता पाने का उद्योग किया है, उनका संक्षिप्त वर्णन * नीचे किया जाता है—

(१) मुनाफ़े का बाँटा जाना—कारख़ाने के मालिक और मज़दूर कभी-कभी आपस में यह निश्चय कर लेते हैं कि फ़ी-सदी अमुक मुनाफ़े से अधिक जितना मुनाफ़ा होगा, वह सब, या उसका अमुक अंश, मज़दूरों को बाँट दिया जायगा। इससे मज़दूरों का उत्साह बढ़ जाता है, उनकी मेहनत अधिक उत्पादक हो जाती है, और मुनाफ़ा भी अधिक होने लगता है। यह अधिक मुनाफ़ा मज़दूरों के अधिक दिल लगाकर

* 'संपत्ति-शास्त्र' के आधार पर।

काम करने का फल है। इसे मज़दूरों को देने से पूँजीवालों की हानि नहीं होती, उल्टा उनका और मज़दूरों का संबंध दृढ़ हो जाता है।

(२) साझा—जब किसी व्यवसाय में बहुत मुनाफ़ा होने लगता है, तो लालची पूँजीवाले मज़दूरों को उसका काफ़ी हिस्सा नहीं देते। इससे मालिक और मज़दूरों में फिर हित-विरोध हो जाता है। इसलिये समझदार व्यवसायियों ने साझे की रीति निकाली है। किसी-किसी कारख़ाने या कारोबार के मालिक अपने मज़दूरों से भी थोड़ी-थोड़ी पूँजी लेकर अपने व्यवसाय में लगाते हैं, अर्थात् उन्हें अपना साझी कर लेते हैं। इससे मालिक और मज़दूर दोनों को बराबर हानि-लाभ उठाना पड़ता है, मज़दूर जी लगाकर, ईमानदारी से, काम करते हैं, और उनका और मालिक का पारस्परिक संबंध दृढ़ होता है।

यहाँ खेती के काम में यह रीति प्रचलित है। बहुत-से आदमी अपनी ज़मीन परिश्रमी किसानों को इस शर्त पर दे देते हैं कि बीज ज़मीनवाले का और किसान का आधा-आधा (अथवा कम उपजाऊ ज़मीन में कुल बीज ज़मीनवाले का) लगे, और परिश्रम कुल किसान का। लगान किसान को नहीं देना होता। फ़सल आने पर आधी-आधी दोनों बाँट लेते हैं।

(३) सहोद्योग। यदि कहीं मज़दूर ही पूँजीवाले भी हो जायँ, तो पूँजी और श्रम के हित-विरोध का समूल ही नाश हो जाय। इसे सहोद्योग या सहकारिता कहते हैं। बहुत-से व्यापार-व्यवसायों और बैंकों में सहकारिता की रीति का उपयोग किया जाता है। आशा है, धनोत्पादन में इस तत्त्व का महत्त्व लोगों के अधिकाधिक ध्यान में आता जायगा। सुनते हैं, बोल्शेविक प्रथा के अनुसार रूस आदि कुछ देशों में सब व्यावसायिक पूँजी के मालिक मज़दूर ही हैं।

मिश्रित पूँजीवाली कंपनियाँ—आजकल बड़ी मात्रा में उत्पत्ति होने और कल-कारख़ानों से काम लेने में बड़ी-बड़ी पूँजी

की ज़रूरत होती है, और व्यवस्थापक को इसका प्रबंध करना पड़ता है। बहुधा एक-एक व्यक्ति से इतनी पूँजी व्यवसाय-कार्य में नहीं लगाई जा सकती, इसलिये बहुत-से आदमियों की थोड़ी-थोड़ी पूँजी मिलाकर ज्वाइंट स्टॉक (Joint Stock) अर्थात् मिश्रित पूँजी की कंपनियाँ स्थापित की जाती हैं।

भारतवर्ष में इन कंपनियों का कार्य क्रमशः बढ़ रहा है। बहुत-से योरपियन उद्योग इसी प्रणाली से आरंभ हुए थे। वे भारत-वासी भी, जिन्हें नए औद्योगिक कार्य आरंभ अथवा विस्तृत करने होते हैं, बहुधा ऐसी ही कंपनियाँ बनाते हैं। ये दो प्रकार की होती हैं—परिमित या लिमिटेड (Limited) देनदारी की और अपरिमित या अनलिमिटेड (Unlimited) देनदारी की।

परिमित देनदारी की कंपनी के बंद होने पर उसके हिस्सेदारों की ज़िम्मेदारी, उसका सब ऋण चुकाने की, नहीं होती, केवल अपना-अपना हिस्सा चुका देने की होती है। अपरिमित देनदारी की दशा में कंपनी का सब ऋण चुकाने की पूरी ज़िम्मेदारी प्रत्येक हिस्सेदार पर रहती है। इस प्रकार यह देनदारी हिस्से की रक़म के विचार से अपरिमित रही। परंतु वास्तव में यह अपरिमित नहीं है. इसकी सीमा है; क्योंकि यह कंपनी के ऋण से अधिक तो हो ही नहीं सकती।

अपरिमित देनदारीवाली कंपनियों की साख तो अधिक होती है, परंतु उसमें हिस्सेदारों की हानि की बहुत संभावना होती है। अधिकतर परिमित देनदारीवाली कंपनियाँ ही खुलती हैं।

कंपनियों की रजिस्टरी के क़ानून के अनुसार सन् १९१९-२० ई० तक यहाँ ८८८७ कंपनियाँ बनीं। इनमें से इस वर्ष के अंत में ३६६८ काम कर रही थीं, शेष में से अधिकांश ने अपना कार्य समाप्त कर दिया, और कुछ ने आरंभ ही नहीं किया था। इस प्रकार लगभग ६० फ़ी-सदी शिथिल हो गई।

काम करनेवाली प्रचलित कंपनियों का ब्यौरा इस प्रकार है—

कंपनियाँ	सन् १९०० में संख्या	सन् १९०९ में संख्या	सन् १९१९-२० में	
			संख्या	प्राप्त पूँजी (लाख रुपए)
बैंक की	४०७	५०७	५५६	९३५
बीमे की	४३	६२	९८	८३
जहाज़ की	९	१७	३१	१५०
रेल और ट्राम की	१८	२६	५२	१,३६८
अन्य व्यापारिक	२५२	६०८	१,३४६	२,८३२
चाय की	१२९	१३७	३८५	६८२
अन्य खेती की	१९	२७	५६	९२
कोयला खोदने की	३४	१२२	२३२	७४१
सोना खोदने की	७	९	६	१८
अन्य धातु तथा पत्थर की	१३	४७	९८	७५५
रुई की मिलों की	१५२	२१८	२४७	१,९८०
जूट की मिलों की	२१	३४	५५	१,१६५
ऊन, रेशम आदि की	२५	१४	२१	१२४
रुई तथा सन के प्रेसों की	११३	१४३	१४१	२६८
आटा पीसने की	१८	२८	३५	७४
ज़मीन और मकान-संबंधी	४	२९	५८	३६४
खाँड़-संबंधी	११	२१	२४	८७
अन्य विविध	६५	१०७	२२७	६०४
योग	१,३४०	२,१५६	३,६६८	१२,३२२

देसी रियासतों में भी इन कंपनियों की उन्नति हो रही है। देश के भिन्न-भिन्न भागों के हिसाब से इन कंपनियों का सन् १९१९-२० ई० का ब्यौरा इस प्रकार है—

प्रांत या रियासत	संख्या	प्राप्त पूँजी (हज़ार रुपए)	सन् १९१९-२० ई० की एक कंपनी की औसत-पूँजी (हज़ार रुपए)
बंगाल	१,७४२	५,३३,८२९	३०६
बंबई	७४०	४,३६,६७३	५९१
मदरास	४३५	७०,६३०	१६३
संयुक्त-प्रांत	१५९	२९,५५९	१८६
बर्मा	१३८	६९,१८४	५०१
आसाम	८१	३,३८६	४२
मैसूर	७९	६,६४३	८४
पंजाब	७९	३२,४८५	४११
बड़ौदा	४१	७,७९५	१९०
बिहार-उड़ीसा	३९	१,६०२	४१
ग्वालियर	३०	१७,५३३	५८४
दिल्ली	२९	९,९७७	३४४
मध्य-प्रांत, बरार	२६	४,०३०	१५५
अजमेर-मेरवाड़ा	२०	१,८९६	९५
इंदौर	१८	५,५२९	३०७
बंगलोर	९	७०२	७८
कुर्ग	२	२४	१२
पश्चिमोत्तर सीमा-प्रांत	१	५९	५९
योग	३,६६८	१२,३२,१३६	३३६

मैनेजिंग एजंट *—भारतवर्ष में प्रत्येक 'ज्वाइंट स्टॉक-कंपनी' के लिये एक या अधिक मैनेजिंग एजंट होना एक साधारण नियम बन गया है। कंपनी के हिस्सेदार शेयर-होल्डर कहलाते हैं, और उनकी ओर से कार्य-संचालन करनेवाले डाइरेक्टर (संचालक)। संचालक अपने प्रबंध-संबंधी अधिकार एक दूसरी कंपनी या फ़र्म को सौंप देते हैं, जो मैनेजिंग एजंट कहलाती है। यह फ़र्म उस कंपनी का कर्ता-धर्ता हो जाता है। उसके अधिकार मैनेजर से कहीं अधिक विस्तृत होते हैं; यहाँ तक कि मैनेजर का रहना-न-रहना उसी की इच्छा पर निर्भर रहता है।

मैनेजिंग एजंसी काम-धेनु का काम देती है, यह देखकर मैनेजिंग एजंट बनने की इच्छा रखनेवाले अब कंपनियों को जन्म देते-दिलाते हैं।

मैनेजिंग एजंसी की प्रथा से हमारे बीच में परावलंबन के भाव की वृद्धि हो रही है। यह सच है कि और देशों में भी शेयर-होल्डरों को अपने प्रबंधक अधिकार कुछ चुने हुए संचालकों को सौंप देने पड़ते हैं, पर संचालकों और हिस्सेदारों का स्वार्थ एक होने के कारण वह औद्योगिक उन्नति के लिये इतना हानिकर नहीं होता। अतः मैनेजिंग एजंसी की प्रबंध-प्रणाली के प्रसार को रोकना चाहिए। जिनके पास कुछ पूँजी है, और जो उसे देश की औद्योगिक उन्नति में लगाना चाहते हैं, उन्हें स्वावलंबन का पाठ पढ़ना और पढ़ाना चाहिए। यदि मैनेजिंग एजंट रखना आवश्यक ही हो, तो कर्तव्य-परायण सज्जन नियुक्त किए जायँ, परंतु हिस्सेदारों को अपने हित की रक्षा का सदैव ध्यान रखना चाहिए।

हिस्सेदारों को कई समस्याएँ हल करनी होंगी; पर एक ऐसी

---

* 'स्वार्थ' के आधार पर।

संस्था की भी आवश्यकता है, जो सब हिस्सेदारों के हित की रक्षा करे, जो उनके सुधार-संबंधी सब उद्योगों का केंद्र हो। ऐसी एक संस्था कुछ समय से कलकत्ते में है, और यह अच्छा काम भी कर रही है; परंतु हिस्सेदारों ने उसे अभी तक वह सहायता या सहयोग-प्रदान नहीं किया, जो उन्हें अपनी ही भलाई के लिये करना उचित है। उन्हें चाहिए कि उसे पूरी तरह अपनावें, और मैनेजिंग एजंटों के बारे में जो शिकायत हो, फ़ौरन् शेयर-होल्डर्स-एसोसिएशन को उसकी सूचना दें।

क्रमागत वृद्धि, समानता और ह्रास-नियम—व्यवस्था-संबंधी परिच्छेद समाप्त करने से पहले एक नियम का उल्लेख करना आवश्यक है। वह इस प्रकार है—उत्पत्ति के किसी कार्य में पूँजी और श्रम के बढ़ाने से भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार एक वस्तु की इकाई (Unit) का उत्पादन-व्यय कभी (क) घटने लगता है, (ख) बराबर रहता है, या (ग) बढ़ने लगता है। अब हम यह बतलाते हैं कि किन-किन परिस्थितियों में ऐसा होता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में कई प्रकार की बचत होती है; जिससे एक वस्तु की इकाई का औसत उत्पादन-व्यय कम होने लगता है। परंतु साथ-ही-साथ कच्चे माल की आवश्यकता बढ़ती जाती है, और यह कच्चा माल प्रायः अधिक उत्पादन-व्यय से प्राप्त होता है।

जब तक कच्चे माल की इकाई की लागत-वृद्धि बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से होनेवाली बचत से कम रहती है, तब तक क्रमागत वृद्धि (Increasing Returns) होती है। इसकी एक सीमा है। इसके बाद जब कच्चे माल की लागत-वृद्धि बड़ी मात्रा की उत्पत्ति की बचत के बराबर होने लगती है, तो क्रमागत समान-प्राप्ति (Constant Returns) कही जाती है। यदि उत्पत्ति

मि० डिगबी ने सन् १६०१ ई० में भारतीयों की औसत सालाना आमदनी १८ रु० ६ आने सिद्ध की थी। लार्ड कर्ज़न ने अपने समय में सरकारी जाँच की थी। उसके अनुसार यहाँ के एक आदमी की वार्षिक आय ३० रु० अर्थात् प्रतिदिन १६ पाई बैठती है।

हाल में प्रो० काले ने जो हिसाब लगाया है, उससे मालूम होता है कि सन् १६२०-२१ में भारतवासियों की वार्षिक आय प्रति-मनुष्य ३६ रु० थी; जो ३ रुपए प्रतिमास अर्थात् ६ पैसे प्रतिदिन पड़ती है।

स्मरण रहे कि इस औसत के निकालने में करोड़पतियों और लखपतियों की आमदनी को भी हिसाब में शामिल कर लिया गया है। यदि उसे अलग कर दिया जाय, तो साधारण आदमियों की आय और भी कम रहेगी।

हमारे आदमी किस प्रकार निर्वाह कर रहे हैं, इसके लिये हम क़ैदियों का कुछ हिसाब देते हैं—

मद्द	व्यय				
	सन् १६१६	१६१७	१६१८	१६१६	१६२०
भोजन	३७·२४	३६·६४	४०·६३	६०·१०	६२·७८ रुपए
वस्त्र	५·७८	५·६०	८·२६	६·१०	६·६२ ,,
स्वास्थ्य	१·७०	१·७७	२·२२	२·३४	२·७३ ,,
योग	४४·७२	४४·३१	५१·४४	७१·५४	७५·१३ ,,

यह हिसाब सरकारी रिपोर्ट से लिया गया है । इसमें उनके रहने के मकान, बीमारी के समय ली जानेवाली औषधियों, उनके कहीं आने-जाने एवं उनकी अन्य विविध आवश्यकताओं का खर्च जान-बूझकर छोड़ दिया गया है । इससे स्पष्ट है कि ३६ रुपए वार्षिक आयवालों का जीवन भी क़ैदियों से ख़राब है । फिर जिनकी आमदनी इससे भी कम है, उनकी दुर्दशा का क्या ठिकाना ?

यदि हम चाहते हैं कि भारतवासियों को कम-से-कम उतना तो खाने-पहनने को मिले, जितना क़ैदियों को मिलता है, तो यह अत्यंत आवश्यक है कि उनकी आमदनी शीघ्र दुगनी हो जाय । यह विना उत्पत्ति बढ़ाए नहीं हो सकती । अतः अब यह विचार करना है कि कृषि की उन्नति और उद्योग-धंधों की वृद्धि किस प्रकार की जा सकती है ।

हमारी खेती की उपज—कृषि-जन्य पदार्थों की मात्रा की दृष्टि से भारतवर्ष का संसार में तीसरा नंबर है । सब देशों की सन की माँग यही पूरी करता है, और गेहूँ, कपास, चावल आदि की पैदावार में यह उनके सामने अच्छा स्थान रखता है । भू-गर्भ-संबंधी पैमायश से यह भी सिद्ध हो गया है कि भारत-भूमि सचमुच रत्न-गर्भा है । परंतु देश-निवासियों की आवश्यकताओं को देखते हुए यहाँ की उपज कम है (खाद्य पदार्थों की बाहर निर्यात हो जाने से तो यह कमी और भी बढ़ जाती है) । श्री० पं० दयाशंकरजी दुबे एम्० ए०, एल्-एल्० बी० ने दिसंबर, सन् १९२२ ई० की 'श्रीशारदा' में प्रकाशित अपने लेख में बतलाया है कि भारतवर्ष का हिसाब करोड़ मन के अंकों में इस प्रकार है—

सन्	अनाज की माँग	अनाज की पूर्ति	अनाज की कमी
१९११-१२	१७९.९	१५३.७	२६.२
१९१२-१३	१७९.१	१४१.१	३८.०
१९१३-१४	१७९.७	१३४.९	४४.८
१९१४-१५	१८१.९	१४७.९	३४.०
१९१५-१६	१८२.३	१५८.८	२३.५
१९१६-१७	१८२.८	१६३.४	१९.४
१९१७-१८	१८२.७	१५५.२	२७.५
१९१८-१९	१८२.०	११३.६	६८.४
१९१९-२०	१८२.६	१६५.८	१६.८
१९२०-२१	१८२.३	१३०.०	५२.३

अनाज की इस भयंकर कमी को दूर करने के लिये भी यह आवश्यक है कि देश में उपज शीघ्र बढ़ाई जाय।

अन्य देशों से तुलना—क्षेत्र-फल और जन-संख्या के हिसाब से इस समय यहाँ की उत्पत्ति अन्य देशों से बहुत कम मालूम पड़ती है। उदाहरणार्थ फ़ी-एकड़ चीनी की उत्पत्ति यहाँ क्यूबा की अपेक्षा एक तिहाई, जावा के छठवें अंश और हवाई-द्वीप के सातवें अंश से भी कम है। पिछले दिनों में औद्योगिक कमीशन ने दिखलाया है कि जहाँ इँगलैंड में एकड़-पीछे १९१९ पौंड (वज़न) गेहूँ होता है, वहाँ भारत में केवल ८१४ पौंड। जहाँ इँगलैंड में १४६५ पौंड जव होता है, वहाँ भारत में सिर्फ़ ८७७ पौंड। जहाँ भारत में एकड़-पीछे ९० पौंड रुई होती है, वहाँ अमेरिका के संयुक्त-राज्य में २०० और मिश्र में ४५० पौंड।

परंतु हमारी भूमि अन्य देशों की ज़मीन से कम उपजाऊ नहीं है, क्योंकि कृषि-विभाग के अफ़सर इसी ज़मीन पर नए तरीक़ों से खेती करके उपज दूनी-तिगुनी कर लेते हैं। बंबई-प्रांत के कृषि-विभाग के भूतपूर्व डाइरेक्टर श्री० कीटिंग साहब का यह कहना है कि भारत में नए तरीक़ों के उपयोग से अस्सी फ़ी-सैकड़ा उपज आसानी से बढ़ाई जा सकती है। परंतु इसके लिये हमको किसानों की असुविधाएँ दूर करने की आवश्यकता है।

कृषि-संबंधी असुविधाएँ—भारतवर्ष में कृषि-संबंधी मुख्य-मुख्य असुविधाएँ ये हैं*—

(१) उनकी ग़रीबी और उनके रहन-सहन का बहुत नीचे दर्जे का होना।

(२) उनकी ज़मीन का बहुत छोटे-छोटे टुकड़ों में और दूर-दूर पर बँटा होना।

(३) देश के कई भागों में पानी की कमी।

(४) कम ब्याज पर, काफ़ी परिमाण में उनको रुपए उधार न मिलना।

(५) उत्तम बीज, बैल, खाद और औज़ारों की कमी।

(६) दलालों द्वारा उनके बहुत-से मुनाफ़े का हड़प किया जाना।

(७) भारतीय कृषकों का अज्ञान और नए प्रकार की खेती की शिक्षा का अभाव।

(८) ग़ैर-मौरूसी और शिकमी-दर-शिकमी काश्तकारों से बहुत अधिक लगान का वसूल किया जाना।

दूर करने के उपाय—किसानों में शिक्षा का प्रचार करने और उनकी लगान और चकबंदी-संबंधी असुविधाओं को दूर करने के

---

* 'भारत में कृषि-सुधार' के आधार पर।

उपायों का तथा सहकारी समितियों के प्रचार का विचार अन्यत्र किया गया है । इसके अतिरिक्त श्री० दुबेजी का कृषक-हितैषी-विभाग स्थापित करने का प्रस्ताव अवश्य विचारणीय है, जिसके मुख्य कार्य ये हों—

(१) किसानों की दशा ज़्यादा-से-ज़्यादा २०-२५ वर्ष में सुधर जाय, इसी ध्येय पर लक्ष्य करके वह अपना कार्य करे ।

(२) आबपाशी-विभाग से ऐसा प्रयत्न करावे, जिससे किसानों को पानी की कमी न रहे; कुएँ बनवाने के लिये आवश्यकतानुसार तक़ावी दिलावे ।

(३) सब प्रकार के उत्तम बीज तैयार कराके उन्हें किसानों में उचित रीति से वितरण कराने का प्रबंध करे ।

(४) नए-नए तरीक़ों, उपयुक्त खाद और औज़ारों का उपयोग करने के लिये किसानों को उत्साहित करे ।

(५) प्रत्येक बड़े-बड़े गाँव में पशु-चिकित्सालय खोलने का प्रबंध करे और किसानों को उचित मूल्य पर उत्तम-उत्तम खाँड़ तैयार करके दे ।

सरकार की ओर से एक कृषि-विभाग नियत है । वह इन विषयों में कुछ सुधार-कार्य कर रहा है । परंतु उसके कार्य-क्रम का ढंग बहुत ख़र्चीला और आडंबर-पूर्ण है, और वह यहाँ की कृषक-जनता के लिये यथेष्ट उपयोगी नहीं । यदि वह जनता के प्रति उत्तरदायी होकर अपना उचित कर्तव्य पालन करे, तो उसकी उपयोगिता बढ़ सकती है ।

खेती की उन्नति और उद्योग-धंधे*—कलों या मशीनों से बने हुए अधिकांश विदेशी और कुछ स्वदेशी सस्ते माल के कारण

* 'भारत की सांपत्तिक अवस्था' के आधार पर ।

अब पुराने पेशेवालों का पेट नहीं भरता। उन्हें या तो मिलों और कारख़ानों की नौकरी या मज़दूरी करनी पड़ती है, अथवा अपने पेशे के साथ-साथ कुछ खेती भी करनी पड़ती है। इससे खेती करनेवालों की संख्या और ज़मीन की माँग भी बढ़ती गई। जब से रोज़गार बैठ गए, तब से अकाल के कारण तबाह होनेवाले खेतिहरों की संख्या बहुत बढ़ गई है।

यह देखकर दुर्भिक्ष-कमीशन ने सलाह दी थी कि लोगों को खेती से जीविका-निर्वाह करने की आदत न डालनी चाहिए। यदि लोग रोज़गार तथा धंधे भी करते रहेंगे, तो अकाल से उन्हें इतना कष्ट न पहुँचेगा।

यह सलाह अच्छी है, पर सिर्फ़ रोज़गारों की ओर जाने से ही दुःख दूर न हो जायगा। दुर्भिक्ष की दशा में जब खेतों में जूट, कपास आदि न उपजेगी, तो पुतलीघरों में कच्चे माल कहाँ से आवेंगे? पुनः जब खेतिहरों को खाने को ही न होगा, तब मिलों का बना माल कौन ख़रीदेगा? इसलिये रोज़गारों के साथ खेती की भी उन्नति करनी होगी।

इससे दो लाभ होंगे। एक तो खेती के नए औज़ारों की माँग बढ़ जायगी, जिससे देश में इनके लिये बहुत-से कारख़ाने खुल जायँगे, और दूसरे खेतिहरों के पास खाने-पीने के अतिरिक्त अन्य आवश्यक द्रव्य ख़रीदने के लिये यथेष्ट धन बच जायगा। इस धन से वे लोग कपड़े-लत्ते, जूते, छाते आदि सामान ख़रीद सकेंगे। इससे भी उद्योग-धंधों के फैलने में बड़ी सुगमता होगी। यदि किसान लोग अपने माल को थोड़ा-बहुत तैयार करने लगें—उदाहरणार्थ धान के बदले चावल बेचने लगें—तो औज़ारों की माँग और भी बढ़ जाय। औद्योगिक कमीशन ने हिसाब लगाकर देखा है कि यदि देश में कलों से पानी पहुँचाने और ईख पेरने की

चाल चल जाय, तो इन्हीं दो मद्दों में ८० करोड़ रुपयों की पूँजी के कल-पुर्ज़े लग जायँगे। फिर इनमें सालाना मरम्मत के लिये भी कुछ लगेगा। इस प्रकार खेती की उन्नति करने से धंधों के बढ़ जाने के लिये बड़ा अवसर मिलेगा। कृषि-संबंधी विचार कर चुकने पर अब हम उद्योग-धंधे पर विचार करते हैं।

औद्योगिक विभाग *—भारतवर्ष की भूमि उद्योग-धंधों, उत्पन्न द्रव्यों और उनके व्यापार के नाते पाँच भागों में बाँटी जा सकती है—

(१) आसाम, बंगाल, बिहार और उड़ीसा। यहाँ रबर, तेलहन, तेल, लाख, नील, जूट, काग़ज़, चमड़ा, रेशम, अफ़ीम, तंबाकू, चाय, चीनी, चावल, कोयला, लोहा, शोरा, अबरख इत्यादि द्रव्य उपजते या पाए जाते हैं। दस्तकारी में हाथी-दाँत का काम, छाता बनाना, सीप, शंख का काम, ढाके की मलमल, ज़रदोज़ी या बेल-बूटों का काम और चटाई बुनने का काम मशहूर है।

(२) उत्तर-भारत, जिसमें संयुक्त-प्रांत, मध्य-प्रदेश, राजपूताना, मध्य-भारत, पंजाब, सीमा-प्रांत और काश्मीर शामिल हैं। यहाँ शाल, धूप, लाख, तेलहन, इत्र, साबुन, मोमबत्ती, कत्था, हर्रा, बहेड़ा, रुई, रेशम, ऊन, तैयार चमड़ा, दरी, गेहूँ, बिस्कुट, अफ़ीम, चाय, चीनी, शराब, शीशम, देवदारु की लकड़ियाँ, जस्ता, ताँबा, नमक, शोरा, सोहागा, खारी मिट्टी इत्यादि द्रव्य पाए जाते या उपजते हैं। दस्तकारी में टीन के सामान, लाख से रँगे धातु के सामान, इनामिल, सोने, चाँदी, ताँबे, पीतल और फ़ौलाद के सामान, पत्थर खोदने और काटने का तथा मिट्टी का काम, लकड़ी, हाथी-

---

* भारत की सांपत्तिक अवस्था।

दाँत तथा चमड़े का काम, रँगने-छापने का काम, रुई, रेशम तथा ऊन के कपड़े, शाल-दुशाला, दरी, जाज़म, ग़लीचे इत्यादि के काम मशहूर हैं।

(३) पश्चिम-भारत (बंबई-हाता, बरार और बिलोचिस्तान)। यहाँ गोंद, तेलहन, रुई, ऊन, चमड़ा, जड़ी-बूटी, नमक और गेहूँ पैदा होता है। सोने-चाँदी के सामान, लकड़ी, सींग, चमड़े, रुई, ऊन तथा ज़रदोज़ी से संबंध रखनेवाली दस्तकारियाँ मशहूर हैं।

(४) दक्षिण-भारत (मदरास-हाता, हैदराबाद, मैसूर और कुर्ग)। यहाँ तेलहन, घी, चर्बी, नील, रुई, नारियल के छिलके के सामान, हाथी-दाँत, चमड़ा, चाय, काफ़ी, सिगार, मिर्च, दालचीनी, चीनी, शराब, चावल, चंदन की लकड़ी, मोती, सोना, मैंगनीज़, सीसा, सीमेंट इत्यादि द्रव्य पाए जाते हैं। दस्तकारी में सोने, चाँदी, ताँबे, पीतल का सामान, पत्थर, लकड़ी, हाथी-दाँत का काम, कपड़ा रँगना-छापना, रेशमी कपड़ा बुनना और चिकन का काम मशहूर है।

(५) बर्मा। यहाँ का वार्निश, इंडिया रबर, लाख, कत्था, सिगार, चावल, सागवन की लकड़ी, पेट्रोलियम और टीन मशहूर हैं। दस्तकारी में लोहे, सोने, चाँदी, ताँबे, पीतल, हाथी-दाँत, लाख और शीशे के सामान अच्छे बनते हैं।

इस प्रकार बंगाल और बिहार में कृषि-जात द्रव्यों की प्रचुरता है, पर दस्तकारी की कमी। पश्चिम-भारत में द्रव्यों तथा कारीगरियों, दोनों की कमी है। दक्षिण-भारत में इनकी प्रचुरता है। बर्मा में हुनर बहुत है। उत्तर-भारत में कारीगरियों की कमी नहीं है।

भारतीय शिल्प ; छोटी दस्तकारियाँ—भारत-वासी अधिकांश शिल्पीय पदार्थ अब बहुधा विदेशों से मँगाते हैं ; वह ज़माना गया, जब यहाँ की बनी चीज़ें दूर-दूर तक आदर, आश्चर्य और

ईर्षा की दृष्टि से देखी जाती थीं। किस प्रकार कंपनी के समय में हमारे शिल्प का ह्रास हुआ और हमारी जगत्-विख्यात कारीगरियाँ नष्ट की गईं, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यहाँ की औद्योगिक जागृति को किस प्रकार कंटकाकीर्ण किया गया, ये बातें हम अपनी 'भारतीय जागृति' पुस्तक में बता चुके हैं।

धीरे-धीरे अनेक बाधाओं का सामना करते हुए यहाँ कुछ बड़े-बड़े कल-कारख़ाने खुले हैं, परंतु अधिकांश देश में छोटी दस्त-कारियों की ही विपुलता है। इसके कुछ विशेष कारण ये हैं—

(१) जातीय प्रथा के कारण जुलाहे, कुम्हार आदि अपने पूर्वजों के ही काम करते हैं। स्थान-परिवर्तन या आजीविका के नए साधन प्राप्त करने में उन्हें बहुधा सामाजिक पार्थक्य सहन करना पड़ता है।

(२) बहुधा मनुष्यों को स्वेच्छानुसार काम करने की आदत पड़ी हुई है; वे कारख़ानों में निश्चित घंटे काम करना अथवा अन्य क़ायदे-क़ानून का बंधन पसंद नहीं करते।

(३) कारख़ानों में मिलनेवाली मज़दूरी इतनी अधिक नहीं हुई कि गाँव के लोग सहसा नगर में रहने की असुविधाएँ और ख़र्च सहन करने लगें। वे भूख से विशेष पीड़ित तथा ऋण-ग्रस्त होने पर ही, लाचार होकर, घर या कुटुंब का मोह छोड़ते हैं।

(४) परदे की प्रथा के कारण अनेक औरतें बाहर जाकर काम नहीं कर सकतीं। उनके लिये घरू धंधे ही मोक्ष-कारी हैं।

(५) विविध स्वतंत्र पेशों को एकदम उठाकर जगह-जगह पुतलीघर क़ायम करना न संभव है, न अभीष्ट ही है। कृषि-कर्म यहाँ प्रधान कार्य है। कृषकों को साल में तीन-चार महीने बेकारी रहती ही है। इस समय वे सूत कातने, कपड़ा बुनने, रस्सी बटने, टोकरी बनाने, रँगने, छापने आदि का रोज़गार बख़ूबी कर सकते हैं।

ग्राम्य उद्योग-धंधों को जीवित रखने तथा उनकी उत्तरोत्तर

वृद्धि करने के लिये, गाँवों की पाठशालाओं में, छोटी-छोटी कारीगरी के योग्य, अच्छे औज़ार काम में लाने आदि की शिक्षा और भिन्न-भिन्न रोज़गार-संबंधी विविध जानकारी मिलने की यथेष्ट व्यवस्था होनी चाहिए। ग्राम्य सहयोग-समितियों के भी बहुत बढ़ाने और संगठित करने की बड़ी ज़रूरत है, जिससे आवश्यक कच्चा माल ख़रीदने और तैयार माल बेचने में अधिक लाभ और सुबीता हो।

बड़े-बड़े कारख़ाने—अब बड़े-बड़े कारख़ानों का हिसाब लीजिए। सन् १९१९ ई० में कुल ५३३२ कारख़ाने थे। इनमें से राज्य अथवा म्युनिसिपैलिटी और पोर्ट-ट्रस्ट आदि स्थानिक संस्थाओं के १५९ थे। इनमें से १३१ तो ऐसे थे, जिन पर कारख़ानों का ऐक्ट लग सकता है, और २८ ऐसे, जिन पर ऐक्ट नहीं लग सकता। इनमें मुख्य-मुख्य का ब्यौरा तथा उनकी सन् १९१८ से तुलना इस प्रकार है—

राज्य अथवा म्युनिसिपैलिटी आदि के मुख्य कारख़ाने	सन् १९१८	सन् १९१९
छापने के प्रेस	३२	३३
लोहा ढालने और इंजीनियरी आदि के कारख़ाने	२३	२४
रेल के कारख़ाने	१९	१९
नलों के संबंध में	११	११
डेयरी-फ़ार्म	७	६
म्युनिसिपिल कारख़ाने	८	८
कपड़े की एजंसियाँ	८	६
चारे के प्रेस	५	५
हथियार आदि	६	६
गोला-बारूद	७	७

देशी रियासतों के कारख़ाने इनसे अलग हैं। जहाँ तक रिपोर्ट मिली है, उनकी संख्या २५ थी। मशीन या बिजली की शक्ति से चलनेवाले, कंपनियों या व्यक्तियों के, कारख़ाने ४३७६ थे। इनमें से मुख्य-मुख्य का ब्यौरा और सन् १९१८ से तुलना इस प्रकार है—

शक्ति से चलनेवाले कारख़ाने	सन् १९१८	सन् १९१९
रुई के जिन और प्रेस	१७८५	१९३४
चावल के कारख़ाने	५९१	६०८
रुई की मिलें	२७४	२७५
तेल के कारख़ाने	१४९	१६८
लकड़ी चीरने के कारख़ाने	१३७	१३९
जूट-प्रेस	७५	७५
इंजीनियरिंग के कारख़ाने	९५	११८
ईंट और खपरैल के कारख़ाने	६९	९४
रेल के कारख़ाने	६४	६६
लोहा और पीतल के ढलाई-घर	४६	५५
आटा पीसने के कारख़ाने	४९	५५
चीनी के कारख़ाने	३२	३७
रेशम के कारख़ाने	३१	५०

इनके अतिरिक्त ७५२ कारख़ाने ऐसे हैं, जो मशीन या बिजली की शक्ति से नहीं चलते। इनमें १६१ ईंटों और खपरैलों के, ७९ लाख के, ७९ चमड़े के, ५५ पत्थर के, ४२ धातुओं के, १५ रेशम के और १५ शराब के थे।

भारतवर्ष के कुल कारख़ानों में काम करनेवालों की संख्या सन् १९१९ में १३, ६७, १३६ थी। जिन कारख़ानों में फ़ैक्टरी-ऐक्ट लगता था, उनमें काम करनेवालों की संख्या ११, ७१, ५१३

थी। इनका ब्यौरा और इनकी सन् १९१८ से तुलना इस प्रकार है—

काम करनेवाले	सन् १९१८	सन् १९१९
नवयुवक	८, ९४, ९१६	९, २७, ५९९
नवयुवतियाँ	१, ६१, ३४३	१, ७७, ३७६
बालक	५३, १८४	५४. ९४६
बालिकाएँ	१०, ९२६	११, ५९२

भारतवर्ष में रुई और जूट के ही उद्योग ऐसे हैं, जो वर्तमान ढंग के कहे जा सकते हैं। इनके पश्चात् रेल और चावल के कारख़ाने हैं। इनके बाद अन्य उद्योगों का नंबर आता है। बड़े-बड़े ग्रामीण तथा घरू धंधों में करघों से कपड़ा बुनने का उद्योग सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण है। कारण, लगभग बीस लाख मनुष्यों का वह उदर-पोषण करता है। राष्ट्रीय आंदोलन से इसे बड़ी सहायता मिली है।

खनिज पदार्थ—प्राचीन समय से यह देश खनिज पदार्थों के लिये प्रसिद्ध रहा है, इसे रत्न-गर्भा भूमि कहते आए हैं। सोने-चाँदी के आभूषण, ताँबे, पीतल, फूल आदि के बर्तन, लोहे के औज़ार और हथियार यहाँ चिरकाल से बर्ते जा रहे हैं। विविध खनिज पदार्थ यहाँ उपलब्ध हैं। युद्ध-काल में यह भली भाँति सिद्ध हो गया है कि बाहर से आनेवाले बहुत-से द्रव्य भी यहाँ ही मिल सकते हैं।

कोयला—आधुनिक शिल्प-जगत् में कोयले का बड़ा महत्त्व है। जहाँ कोयला निकलता है, वहाँ रेलें, कल-कारख़ाने आसानी से जारी हो सकते हैं।

भारतवर्ष का ९० फ़ी-सदी कोयला बंगाल तथा बिहार से मिलता है; कुल कोयले का आधा भाग झरिया से, एक-तिहाई रानीगंज से,

९.९ फ़ी-सदी गिरडीह से निकलता है। ४ फ़ी-सदी सिंगरेनी (हैदराबाद) से आता है। पंजाब, मध्य-प्रांत, मध्य-भारत, आसाम और बिलोचिस्तान में छोटी खानें हैं। भिन्न-भिन्न स्थानों के कोयले का भाव डेढ़ रुपए से छः रुपए फ़ी-टन तक रहता है। भाव के अंतर का कारण कोयले का गुण (Quality), उसकी गहराई, काम में आनेवाली मशीनें, मज़दूरी आदि के व्यय का अंतर होता है। भारतवर्ष में अन्य देशों की अपेक्षा कोयला सतह के पास ही मिलता है।

अन्य खनिज पदार्थ—मैंगनीज़ (इंगनी) की खानें मध्य-प्रदेश और मदरास में हैं। यह इसपात बनाने के काम आती और विदेशों को भी जाती है। नमक की खान झेलम के किनारे से सिंध के पार कुछ दूर तक चली गई है। साँभर की झील में तथा समुद्री तटों पर खारी पानी से भी नमक बनाया जाता है। शोरा प्रायः उत्तरी बिहार में मिलता है।

औद्योगिक संसार में कोयले के अतिरिक्त लोहे की बहुत उपयोगिता है। यह मध्य-प्रदेश में पाया जाता है। सिंह-भूमि (छोटा नागपुर) में भी इसकी खानें हैं। मिट्टी का तेल ९८ फ़ी-सदी ब्रह्मा से और शेष माकूम (आसाम) से आता है। सोने की खानें कोलार (मैसूर) में हैं। अबरक की खानें अजमेर, मदरास, और बिहार में हैं। संसार-भर के ख़र्च के लिये आधे से अधिक अबरक भारत से ही जाता है।

खनिज पदार्थों की उत्पत्ति और मूल्य—गत वर्षों में यहाँ की खानों से मुख्य-मुख्य द्रव्य कितनी मात्रा में निकले और उनका क्या मूल्य रहा, यह आगे के नक़्शे से मालूम होगा—

पदार्थ		१८९०	१९०५	१९१६
नमक	लाख टन	११	१३	१६
	लाख रुपए	५६	६६	१८२

कोयला	लाख टन	२२	८४	२२६
	लाख रुपए	७३	२१३	१,०१२
सोना	हज़ार औंस	१०८	६३१	५०७
	लाख रुपए	५६	३६२	२२५
पेट्रोलियम	लाख गैलन	४१	१,४४७	३,०५६
	लाख रुपए	३	६१	१८३
ताँबा	लाख टन	...	...	·३२
	लाख रुपए	...	...	५·२
हीरा	केरेट	१,३८६	१७२	३१२
	हज़ार रुपए	२०	३७	२०८
ग्रेफ़ाइट	टन	...	२,३२४	१२७
	लाख रुपए	...	२·५	·०८
लोहा	लाख टन	·२८	१	५·६
	लाख रुपए	२	२	४·६
सीसा	लाख टन	...	...	·२
	लाख रुपए	...	...	६७
मैंगनीज़	लाख टन	...	२·५	५·४
	लाख रुपए	...	३२	१५५
शोरा	लाख हंडरवेट	२	·२	३·६
	लाख रुपए	१४	२३	४६
चाँदी	लाख औंस	...	...	२१
	लाख रुपए	...	...	४८
टिन	हज़ार हंडरवेट	·००७	·०१५	·२६
	लाख रुपए	·४३	१·५	१६

इस प्रकार यद्यपि कुछ समय से अधिक खनिज पदार्थ निकाले जा रहे हैं ; परंतु एक उद्योग-धंधेवाले देश के लिये यह कुछ भी नहीं है। इँगलैंड, जर्मनी, संयुक्त-राज्य अमेरिका आदि देश भारत की अपेक्षा आकार और जन-संख्या में कहीं छोटे हैं ; परंतु उनकी

तुलना में भारत की खनिज पदार्थों की निकासी बहुत हीन अवस्था में है।

खनिज पदार्थों का व्यवसाय*—भारतवर्ष में खानों से जो पदार्थ निकाले जाते हैं, उन्हें या तो मामूली तौर से साफ़ करके यहीं काम में ले आते हैं, जैसे कोयला, पेट्रोलियम, नमक आदि; अथवा उन्हें विदेश भेज देते हैं, जैसे अबरक या मैंगनीज़। वहाँ-वाले उनके भिन्न-भिन्न मिश्रित पदार्थों को पृथक्-पृथक् करके काम में लाते हैं, या अगर ज़रूरत से ज़्यादा समझा, तो वह शुद्ध किया हुआ माल भारतवर्ष को अधिक दामों पर भेज देते हैं। भारतवासियों का ध्यान वैसे मिश्रित खनिज द्रव्यों की ओर नहीं गया है, जिनसे निकले हुए द्रव्यों का व्यवहार रासायनिक पदार्थों के बनाने या अन्य किसी खनिज द्रव्य के शुद्ध करने में होता है। इससे बहुत हानि होती है। उदाहरण के लिये खानों में ताँबा प्रायः गंधक के साथ मिला हुआ रहता है। यदि देश में सिर्फ़ ताँबे की माँग हो, तो कच्ची धातु से ताँबा तो साफ़ करके निकाल लिया जायगा, और गंधक यों ही पड़ा रहेगा। यह ताँबा महँगा पड़ेगा। यदि साथ में गंधक निकालने और काम में लाने का भी प्रबंध हो, तो ताँबा और गंधक दोनों सस्ते पड़ें। पर गंधक की माँग तभी हो सकती है, जब कि देश में गंधक के, तेज़ाब के और उससे संबंध रखनेवाले खनिज तेल, सज्जी, साबुन, काँच, रंग आदि विविध प्रकार के रासायनिक व्यवसायों के कारख़ाने स्थापित हों। जब तक व्यावहारिक रसायन-शास्त्र (Practical Chemistry) का देश में प्रचार न होगा, तब तक ताँबे की तरह मिश्रित रूप में मिलनेवाली धातु की खानें काम में नहीं लाई जा सकतीं। यहाँ के

---

* 'भारत की सांपत्तिक अवस्था' के आधार पर।

लोगों को या तो घटी सहकर अपनी चीज़ें खान से निकालकर विदेश भेजनी पड़ेंगी, या उन्हें यों ही छोड़ना पड़ेगा तथा रासायनिक प्रयोग से बननेवाली दूसरी चीज़ें विदेश से मँगानी पड़ेंगी।

खानों की रक्षा—भारत-भूमि खनिज और औद्योगिक पदार्थों के लिये बृहत् भंडार है। परंतु हमारे देशवासियों के अज्ञान, आलस्य तथा पराधीनता के कारण उससे यथेष्ट लाभ नहीं उठाया जाता। सोना आदि कई द्रव्य गुप्त पड़े हुए हैं। ताँबा, मांगल, कोयला, चुंबक, संगमरमर, मिट्टी का तेल आदि निकालने का अधिकांश काम अँगरेज़ों के हाथ में है। अकुशल भारतीय मज़दूर मामूली मज़दूरी पाते हैं। ये पदार्थ हमारे देश से बाहर बहुत चले जाते हैं।

हमारी खानें ख़ाली हो रही हैं। इनमें क्रमागत ह्रास-नियम लगता है; अर्थात् एक सीमा से आगे जिस अनुपात से पूँजी और श्रम बढ़ाया जाता है, उस अनुपात से उत्पत्ति नहीं बढ़ती। यह ह्रास खेती की अपेक्षा अधिक शोचनीय है, क्योंकि खानों से जब एक बार पदार्थ निकाल लिए जाते हैं, तो वे सदा के लिये ख़ाली हो जाती हैं, धातुएँ फिर पैदा नहीं की जा सकतीं। इसलिये खानों की रक्षा का सदैव विचार रहना चाहिए, और उनसे निकले हुए पदार्थों का स्वदेश के लिये अधिकतम उपयोग होना चाहिए।

संचालन-शक्ति—संचालन-शक्ति के लिये भारतवर्ष में कोयले का ही उपयोग बहुत किया जाता है, और यह यहाँ काफ़ी मात्रा में होता भी है। भविष्य में उद्योग-धंधों के संचालन में हाइड्रो इलेक्ट्रिक (Hydro Electric) अर्थात् जल-विद्युत्वाली योजनाओं के अधिकाधिक प्रयोग होने की संभावना है। यह सस्ती और अच्छी होती है; इसमें कोयले का-सा घृणास्पद धुआँ

भी नहीं होता। यहाँ सबसे पहले मैसूर-दरबार ने इस शक्ति से काम लेना शुरू किया था। आजकल इससे, लगभग १८ हज़ार घोड़ों की ताक़त से, कोलर की सोने की खानों का काम चलता है। काश्मीर-नरेश ने रामपुर में एक जल-प्रपात (Waterfall) से बिजली निकाली है। उससे रोशनी के अतिरिक्त रेल चलाने का भी प्रबंध हो रहा है। दक्षिण में कावेरी-वर्क्स और टाटा-वर्क्स में इसी प्रकार बिजली निकाली जा रही है। नदी, नालों, प्रपातों और समुद्र से बहुत अधिक काम लिया जा सकता है। इसके सिवा संचालन-कार्य में भारतीय तेलों का भी बहुत उपयोग हो सकता है।

आधुनिक उद्योग-धंधों और कल-कारख़ानों की जान कोयला है। इसलिये यह बड़ी चिंता हो रही है कि कोयले की समाप्ति पर क्या होगा। जल-विद्युत् की संभावनाओं के अतिरिक्त सूर्य के तेज के उपयोग का विचार हो रहा है। अभी इसका प्रयोग महँगा है। क्रमशः विज्ञान द्वारा उसके सस्ते हो जाने की आशा है। कुछ आश्चर्य नहीं, यदि किसी समय संसार के कल-कारख़ानों का संचालन सूर्य की शक्ति से ही होने लगे। फिर भारत-जैसे गर्म देशों की तो ख़ूब ही बन आवेगी। ये ही भावी सभ्यताओं के केंद्र होंगे।

औद्योगिक उन्नति—हाल में आर्थिक कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई है। उसमें यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि भारतवर्ष की औद्योगिक उन्नति यहाँ की जन-संख्या और क्षेत्रफल को देखते हुए जैसी होनी चाहिए थी, नहीं हुई है। इसके लिये आवश्यक व्यापार की संरक्षण-नीति, औद्योगिक शिक्षा, व्यवसाय-बैंक आदि का वर्णन अन्यत्र किया गया है। इसके अतिरिक्त रेलों और जहाज़ों की दर-विषयक शिकायतें भी दूर होनी चाहिए।

भारतवर्ष पर चिरकाल से विदेशियों के दाँत लगे हुए हैं। अब वे अपने चमक-दमक के सस्ते पदार्थों से हमारा धन लूट रहे हैं। आत्म-रक्षा मनुष्य और देश-मात्र का परम धर्म है। जीवन-संग्राम में अपने-आपको सुदृढ़ बनाए रखने के लिये स्वदेशी सामान की यथेष्ट मात्रा में वृद्धि करनी चाहिए।

समस्या हल कैसे हो ?—धन-वृद्धि में पाश्चात्य देशों से मुक़ाबला करने के लिये उनके ढंग (मशीनों का प्रयोग) इख़्तियार करना हमारे लिये कहाँ तक हितकर होगा, यह विचारणीय है। ऐसी धन-वृद्धि भी किस काम की, जो जनता का ही ह्रास करने लगे। इस पर हमारे सामने यह सवाल आता है कि यदि हम मशीनों का उपयोग न करेंगे, तो विदेशी माल हमारे बाज़ारों में आकर सस्ता पड़ता रहेगा, स्वदेशी माल की खपत कम होगी, हमारे उद्योग-धंधों का और भी ह्रास होगा, और हम कृषि पर अधिकाधिक आश्रित रहेंगे। इसका उपाय क्या है, यह एक बड़ी विकट समस्या है।

प्रथम तो मिलों और मशीनों का इस्तेमाल केवल उन कार्यों के लिये किया जाय, जो उनके विना किसी प्रकार हो ही नहीं सकते, और जिनके विना देश का काम चल ही नहीं सकता। और, मिलों से जो हानियाँ वर्तमान समय में नज़र आती हैं, उन्हें रोकने का भी भरसक उपाय किया जाय। मिलों के मालिक केवल धन पैदा करने की ओर ही लक्ष्य न रखकर इस बात की ओर भी ध्यान दें कि वे हज़ारों-लाखों आदमियों का जीवन केवल रोटी का लालच देकर भ्रष्ट तो नहीं कर रहे हैं। अतएव उनके उद्धार के लिये सत्संग, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की समुचित व्यवस्था करें।

दूसरी बात यह है कि ऐसा सस्ता माल विदेशों से यहाँ आने ही न दिया जाय, जो हमारे स्वतंत्र व्यवसायों का मूलोच्छेद करने-

वाला हो। यह कैसे ? संरक्षण-कर (जिसका वर्णन व्यापार-नीति के प्रसंग में होगा) लगाकर। परंतु इसका अधिकार हमें तभी प्राप्त होगा, जब हम भारत में स्वराज्य-सूर्य का प्रकाश देखेंगे।

तृतीय खंड

पहला परिच्छेद

उपभोग के सिद्धांत

उपभोग का उत्पत्ति से संबंध—उपभोग के लिये ही उत्पत्ति की जाती है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि उपभोग और उत्पत्ति का कारण और कार्य का संबंध है। मनुष्यों को विविध प्रकार के पदार्थों की आवश्यकता होती है। वे उन्हें उपभोग करना चाहते हैं। इसीलिये संसार में तरह-तरह के काम-धंधे दिखलाई पड़ते हैं। यदि हमारी आवश्यकताएँ कुछ भी न रहें, तो संभवतः बहुत-से कार्य बंद कर दिए जायँ। साथ ही जो पुरुष यथेष्ट पदार्थ खाए-पिएगा ही नहीं, उसकी उत्पादन-शक्ति का ह्रास हो जायगा। इस प्रकार उपभोग का उत्पत्ति से घनिष्ठ संबंध है। अतः पिछले खंड में उत्पत्ति का वर्णन कर चुकने पर, अब हम उपभोग पर विचार करते हैं। पहले हम मानवी आवश्यकताओं के विषय को लेते हैं।

मानवी आवश्यकताओं का क्रम—साधारणतया मानवी आवश्यकताओं का क्रम यह है—वायु, जल, भोजन, वस्त्र, घर, विलास-सामग्री आदि। यद्यपि ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि कभी-कभी मनुष्य भोजन-वस्त्र से अधिक अपनी शौक़ीनी की ओर ध्यान देता है, तथापि साधारण क्रम यही है कि प्राण-धारण करने के लिये आवश्यक वस्तुएँ पहले चाही जाती हैं, भोग-विलास की पीछे।

आवश्यकताओं के भेद—समस्त आवश्यकताओं के दो भेद किए जा सकते हैं—

(१) वे आवश्यकताएँ, जो भौतिक पदार्थों से पूरी हो सकती हैं ; जैसे भूख, प्यास, सर्दी-गर्मी के लिये भोजन, जल और वस्त्रादि की आवश्यकता होती है।

(२) वे आवश्यकताएँ, जो भौतिक पदार्थों से पूरी नहीं हो सकतीं ; जैसे कुटुंब का प्रेम आदि।

अर्थ-शास्त्र में इन दूसरी प्रकार की आवश्यकताओं का विचार नहीं किया जाता। यह शास्त्र उन्हीं आवश्यकताओं का विवेचन करता है, जो भौतिक पदार्थों से पूरी हो सकती हैं। इन आर्थिक आवश्यकताओं के पदार्थ कई श्रेणियों में विभक्त किए जा सकते हैं—

(१) प्रारंभिक या प्राकृतिक आवश्यकताओं के पदार्थ, खान-पान या वस्त्र आदि। इनके परिमाण की आवश्यकता परिमित होती है।

(२) कृत्रिम आवश्यकताओं के या दिखावट के लिये सेवन किए जानेवाले पदार्थ ; जैसे ऐसा भोजन, जो न केवल क्षुधा निवारण करे अथवा शरीर की पुष्टि करे, बरन् जिससे समाज में अमीरी प्रकट हो, तथा ऐसे वस्त्र, जो केवल सर्दी-गर्मी को रोकने के लिये ही न पहने जायँ, बल्कि जिनसे चमक-दमक या फ़ैशन दिखाना अभीष्ट हो।

(३) भिन्न रुचि (रुचि-वैचित्र्य) या विविधता (Variety) के विचार से सेवन किए जानेवाले पदार्थ। एक प्रकार का भोजन सदैव रुचिकर नहीं होता, भिन्न-भिन्न ऋतुओं और त्योहारों में नए-नए प्रकार के भोजन की इच्छा होती है।

(४) सभ्यता या संस्कार से उत्पन्न हुई आवश्यकता के पदार्थ। उदाहरणार्थ, धूप तथा वर्षा के बचाव के लिये थोड़े-से स्थान की आवश्यकता तो प्राकृतिक है, परंतु हम अधिक स्थान या मकान में अलग-अलग कमरे चाहते हैं, जिससे हम अपना दैनिक कार्य शांति से निपटा सकें।

(६) शारीरिक तथा मानसिक प्रवृत्तियों से उत्पन्न आवश्यकताएँ; जैसे खेल, तमाशे, नाटक, सिनेमा आदि ।

आवश्यकताओं के लक्षण—मानवी आवश्यकताओं के मुख्य लक्षण ये हैं—

(१) उनकी संख्या अपरिमित है । साधारणतया मनुष्य को भाँति-भाँति के भोजन, तरह-तरह के वस्त्र, नई-नई पुस्तकें और अन्य सामग्री की इच्छा बनी रहती है। सभ्यता के साथ-साथ ये आवश्यकताएँ अधिकाधिक बढ़ती जाती हैं, तथा मानसिक शक्ति की वृद्धि से नई-नई इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। ऐसा मालूम होता है कि यदि मनुष्य को इस संसार में कुछ उन्नति करनी है, तो उसे अपनी आवश्यकताओं को सीमा-बद्ध नहीं करना चाहिए, और अपनी तत्कालीन परिस्थिति से संतुष्ट न होकर बराबर आगे बढ़ने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। यह ठीक है कि सदैव भौतिक आवश्यकताओं का ही ध्यान न रखकर यदि मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति की भी समुचित चेष्टा की जाय, तो मानव-जीवन अधिक आनंदमय हो ।

(२) यथेष्ट साधन होने पर मनुष्य की प्रत्येक आर्थिक आवश्यकता की पृथक्-पृथक् पूर्ति हो सकती है; परंतु ज्यों ही एक आवश्यकता पूरी होती है, त्यों ही दूसरी आ खड़ी होती है। इस प्रकार नई-नई आवश्यकताएँ पैदा होते रहने से साधारण मनुष्य की सब-की-सब आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाना कठिन है।

पुनः प्राकृतिक, प्रारंभिक या पाशविक आवश्यकताओं (Animal wants) की पूर्ति अधिक सरल और संभव है, परंतु प्रायः कृत्रिम आवश्यकताओं के संबंध में यह निश्चय करना बहुत कठिन है। उदाहरणार्थ यह अनुमान जल्द किया जा सकता है कि एक आदमी कितना भोजन करेगा, परंतु यह सहसा नहीं कहा जा सकता कि

कितने द्रव्य, सामग्री या आभूषणों से कोई पुरुष या स्त्री संतुष्ट होगी।

(३) एक ही प्रकार की आवश्यकताओं में बहुधा प्रतियोगिता रहती है। एक आवश्यकता उसी प्रकार की दूसरी आवश्यकता को हटाकर उसका स्थानापन्न होने का प्रयत्न करती है। दूध पीनेवाले बहुत-से आदमियों को उसकी महँगी की दशा में चाय या क़हवे का अभ्यास हो जाता है। सवारी के लिये भारतवर्ष में रथ या बैल-गाड़ी की आवश्यकता का स्थान अब इक्के-बग्घी की आवश्यकता ने ग्रहण कर लिया है, अधिक समर्थ आदमी तो मोटर की अभिलाषा रखते हैं। गेहूँ खानेवाले अकाल के समय ज्वार, बेझर या मकई आदि से और इनके भी अभाव में शाक-भाजी या वृक्षों की पत्तियों पर निर्वाह करते हैं।

(४) आवश्यकताएँ पारस्परिक पूरक होती हैं, बहुधा एक वस्तु की पृथक् आवश्यकता कम होती है; उदाहरणार्थ शाक-भाजी के साथ मसाले, ईंधन और बर्तनों की आवश्यकता होती है। हाँ, उसका इक्के के साथ कोई संबंध नहीं है, परंतु इक्के के साथ घोड़े और साज आदि की आवश्यकता होगी। इस प्रकार मानवी आवश्यकताओं के कई समूह हैं। एक समूह की एक वस्तु का उसी समूह की अन्य वस्तुओं से परस्पर संबंध होता है।

(५) आवश्यकताओं की प्रवृत्ति आदत बनने की रहती है। जब एक चीज़ किसी देश में बराबर एक-दो पीढ़ी तक बरती जाती है, तब वहाँवालों को उसकी आदत पड़ जाती है। इस प्रकार कृत्रिम आवश्यकताएँ प्राकृतिक आवश्यकता का स्वरूप धारण कर लेती हैं। योरप के देशों में नेकटाई या कालर वस्त्र का एक प्रधान अंग माना जाता है। अनेक मज़दूरों के लिये शराब एक आवश्यक वस्तु है। इस प्रकार आवश्यकताओं के बदलने या घटने-बढ़ने से

समय-समय पर रहन-सहन का दर्जा बदलता रहता है। इस संबंध में भारतवर्ष का विचार आगे किया जायगा। यहाँ हम उपभोग-संबंधी अन्य सिद्धांतों को लेते हैं।

उपयोगिता-ह्रास-नियम—एक ही समय में, एक विशेष सीमा के बाद, एक ही चीज़ के किसी अंश के उपभोग से मिलनेवाली संतुष्टि या उपयोगिता क्रमशः कम होती जाती है। इसे उपयोगिता-ह्रास-नियम (Law of Diminishing Utility) कहते हैं। उदाहरणार्थ यदि कोई मनुष्य रोटी खा रहा है, तो पहली रोटी उसे सबसे अधिक संतुष्ट करती है, दूसरी उससे कम, तीसरी दूसरी से कम और चौथी तीसरी से कम। इसी प्रकार हरएक रोटी अपने से पहली रोटी की अपेक्षा कम संतुष्टि देगी।

सीमांत उपयोगिता—जब कोई चीज़ एक ही समय में उपभोग की जाती है, तो उसके अंतिम अंश की उपयोगिता को सीमांत (Marginal) उपयोगिता कहते हैं। यदि कोई व्यक्ति प्रतिदिन पाँच रोटी खाता है, तो पाँचवीं रोटी की उपयोगिता उसके लिये रोटियों की सीमांत उपयोगिता होगी।

इसमें समय का प्रभाव आवश्यक है। अगर कुछ निश्चित समय के बाद किसी चीज़ का एक-एक हिस्सा मिले, तो संभव है कि सब हिस्सों की उपयोगिता बराबर रहे। अगर हम साल-भर में तीन बार धोती ख़रीदें, तो हर बार धोती समान ही उपयोगी प्रतीत हो सकती है। यदि समय एक ही न हो, तो उपयोगिता के ह्रास का नियम नहीं लगता, और सीमांत उपयोगिता की विशेषता भी नहीं होती।

कुल उपयोगिता (Total Utility)—किसी एक ही समय में किसी चीज़ के सब हिस्सों का उपभोग करने से जो तृप्ति हो या उपयोगिताएँ प्राप्त हों, उनके योग को उस चीज़ की कुल उपयोगिता कहते हैं। पूर्वोक्त उदाहरण में पाँचों रोटी खाने से जो संतुष्टि होगी,

उसे उस समय के भोजन की कुल उपयोगिता कहा जायगा। कल्पना करो कि एक युवक को सेर-भर घी की तो बहुत ही ज़रूरत है, दूसरे सेर की इससे कम, तीसरे की दूसरे से कम और चौथे की तीसरे से कम, इत्यादि। हम पहले सेर घी की उपयोगिता को १०० मानकर दूसरे, तीसरे और चौथे सेर की उपयोगिता क्रमशः ७०, ३० और ५ मान सकते हैं। इस बात को तालिका में इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं—

माँग (सेर)	उपयोगिता					
	पहले सेर की	दूसरे सेर की	तीसरे सेर की	चौथे सेर की	कुल	अंतिम
१	१००	—	—	—	१००	१००
२	१००	७०	—	—	१७०	७०
३	१००	७०	३०	—	२००	३०
४	१००	७०	३०	५	२०५	५

आय का विभाग—अब हम इस बात पर विचार करते हैं कि उपर्युक्त नियमों से मनुष्यों के आय-विभाग पर क्या प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक उपभोक्ता अपनी आय को इस तरह विभक्त करता है कि उसके हर प्रकार के उपभोग की, अथवा उपभोग होनेवाले पदार्थों की, सीमांत उपयोगिताओं को किसी एक समय में समान बनाया जाय। उदाहरणवत् किसी एक महीने में कपड़े पर व्यय होनेवाले अंतिम रुपए की उपयोगिता उस मास में भोजन पर व्यय होनेवाले रुपए की उपयोगिता के बराबर हो। इसी तरह प्रत्येक प्रकार के भोजन और प्रत्येक प्रकार के वस्त्रादि के व्यय की भी सीमांत

उपयोगिता समान रहे। उपभोक्ता यह भी चाहता है कि प्रत्येक वस्तु की सीमांत उपयोगिता उसके लिये अधिक-से-अधिक हो। यदि एक श्रमजीवी अपने भोजन पर ख़र्च होनेवाला सब द्रव्य रोटियों में ख़र्च कर दे, तो उसका अंतिम रोटी पर का ख़र्च उसे बहुत संतुष्टि नहीं देगा। उदाहरणार्थ यह संभव है कि तीन आने रोटियों में और एक आना चावलों में ख़र्च करने से उसे, चारों आने रोटियों में ख़र्च करने की अपेक्षा, अधिक संतुष्टि मिले। यदि ऐसा हो, तो समझना चाहिए कि उसके लिये उस चावल की उपयोगिता रोटियों की सीमांत उपयोगिता से अधिक है, और इसीलिये वह चौथे आने से रोटी न ख़रीदकर चावल ख़रीदता है।

इसी प्रकार संभव है कि एक आदमी अपनी आय का अंतिम रुपया अन्य किसी पदार्थ की अपेक्षा जूतों में व्यय करना अधिक पसंद करे। हर दशा में मनुष्य वह चीज़ ख़रीदता है, जिसकी उपयोगिता उसके लिये, उस समय, सबसे अधिक हो।

सीमांत उपयोगिता आय के विभाग में मूल्य पर निर्भर होती है। मूल्य बदलने से उसमें परिवर्तन हो जाता है; क्योंकि अगर एक चीज़ की क़ीमत बढ़ गई, और औरों की पूर्ववत् रही, तो उस एक आनेवाली चीज़ की उपयोगिता कम हो जायगी।

हर प्रकार के व्यय की सीमांत उपयोगिता में समान होने की प्रवृत्ति रहती है। अगर किसी आदमी को कभी यह संदेह हो कि अंत में ख़रीद किए जानेवाले दो पदार्थों में से किसी एक में अधिक उपयोगिता होगी, तो वह प्रायः पहले उसी एक को और फिर दूसरे को ख़रीदकर परीक्षण कर लेगा। अगर कोई आदमी यह निर्णय नहीं कर सकता कि दो पदार्थों में से कौन-सा ख़रीदा जाय, तो यह कहा जा सकता है कि उन दोनों की सीमांत उपयोगिता आ पहुँची।

कल्पना कीजिए कि एक आदमी के पास दस रुपए ख़र्च करने को हैं, और उसके भिन्न-भिन्न पदार्थों पर ख़र्च किए जानेवाले रुपयों की उपयोगिता इस प्रकार है—

रुपया	गेहूँ	चावल	कपड़ा
पहला	१००	७५	६०
दूसरा	८०	५०	३०
तीसरा	६५	२७	१५
चौथा	५०	१२	७
पाँचवाँ	३०	५	४
छठा	१६	२	२
सातवाँ	७	१	०
आठवाँ	२	०	०

इस दशा में वह अधिक-से-अधिक संतुष्टि या उपयोगिता प्राप्त करने के लिये पहला और दूसरा रुपया गेहूँ पर ख़र्च करेगा, तीसरा चावल पर, चौथा गेहूँ पर, पाँचवाँ कपड़े पर और छठा और सातवाँ गेहूँ या चावल पर । इसी प्रकार आठवाँ और नवाँ गेहूँ या कपड़े पर और दसवाँ चावल पर । उपर्युक्त तालिका पर विचार करने से विदित होगा कि उसके भिन्न-भिन्न पदार्थों पर ख़र्च किए जानेवाले रुपयों की सीमांत उपयोगिता लगभग समान होती है ।

सिद्धांत के प्रयोग में कुछ बाधाएँ—(१) स्मरण रहे कि समय का बड़ा मूल्य होता है । कभी-कभी ऐसा भी होता है कि ख़रीद किए जानेवाले दो पदार्थों में से एक को निर्णय करने में जो समय लगे, उसकी उपयोगिता उचित निर्णय से मिलनेवाली अति-

रिक्त उपयोगिता से अधिक हो । ऐसी दशा में विक्रेता उक्त दो पदार्थों में से एक को छाँटने में विशेष ध्यान नहीं देता । इस प्रकार सीमांत उपयोगिताओं को ठीक-ठीक बराबर करना कठिन है ।

(२) नए पदार्थों के परीक्षण से भी सीमांत उपयोगिताओं को समान करने में कठिनाई उपस्थित होती है ।

(३) भावी आवश्यकताओं के विचार से समस्या बहुत जटिल हो जाती है । उपभोक्ता के मन में भावी आवश्यकताएँ वर्तमान आवश्यकताओं से स्पर्द्धा करती हैं, उसे अपनी भावी ख़रीद के पदार्थों (जिनके लिये वह रुपया बचाता है) की सीमांत उपयोगिता को वर्तमान आवश्यकताओं की सीमांत उपयोगिता के समान करना पड़ता है ।

(४) जब कोई पदार्थ, कोट या घोड़े आदि की तरह, अविभाज्य, अर्थात् टुकड़े न हो सकनेवाला, होता है, तो उसकी सीमांत उपयोगिता को अन्य पदार्थों की सीमांत उपयोगिता के समान करना कठिन होता है । टिकनेवाले पायदार पदार्थों की मरम्मत के ख़र्च का भी हिसाब लगाना चाहिए। उदाहरणवत्, यदि एक बाइसिकिल ८०) रु० की ली जाय, और एक वर्ष के बाद उसे सुधारने में दस रुपए वार्षिक औसत व्यय हो, और वह कुल दस वर्ष चले, तो दस वर्षं में उस पर क़ीमत और मरम्मत मिलाकर कुल ८० +{(१०— १) ×१०}=१७० रुपए अर्थात् प्रतिवर्ष १७) रुपए ख़र्च हुए ।

माँग का नियम (The Law of Demand)—किसी वस्तु की माँग से उसके उतने परिमाण का अभिप्राय होता है, जितना ख़रीदार, किसी एक समय में, किसी निश्चित क़ीमत पर, ख़रीदने को तैयार हो ।

प्रत्येक पदार्थ का मूल्य और उसकी माँग का परिमाण साथ-साथ बदलता है । अगर मूल्य घटता है, तो साधारणतया उप-

भोक्ताओं की माँग बढ़ जाती है ; अगर मूल्य बढ़ जाता है, तो माँग घट जाती है (बशर्ते कि अन्य सब बातें विशेषतया अन्य पदार्थों का मूल्य और उस पदार्थ की आमद, पूर्ववत् रहे) । इसे माँग का नियम कहते हैं । इसी को संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं कि सस्ते मूल्य पर अधिक माल ख़रीदा जाता है ।

यह नियम उपयोगिता-ह्रास-सिद्धांत से निकला है, यह बात आगे दिए हुए उदाहरण से स्पष्ट हो-जायगी । कल्पना कीजिए कि एक आदमी की पहले सेर चावल की उपयोगिता ६४ है, और बाद में अन्य एक-एक सेर की सीमांत उपयोगिता क्रमशः ४८, ३५, २५ आदि है । अब यदि चावल की क़ीमत एक रुपया प्रतिसेर हो, तो चावल पर ख़र्च किए हुए प्रथम रुपए की उपयोगिता ६४, दूसरे की ४८, और तीसरे की ३५ होगी । यदि चावल की क़ीमत आठ आने सेर हो जाय, तो एक रुपए में दो सेर चावल मिलेंगे । इसलिये अब चावल पर ख़र्च किए हुए प्रथम रुपए की उपयोगिता ६४+४८=११२ हुई । अब आगे की तालिका पर विचार कीजिए—

सेर	चावल पर ख़र्च किए गए प्रत्येक रुपए की उपयोगिता, जब कि		
	क़ीमत एक रुपया फ़ी-सेर है	क़ीमत आठ आने फ़ी-सेर है	क़ीमत चार आने फ़ी-सेर है
पहला	६४	११२	१७२
दूसरा	४८		
तीसरा	३५	६०	
चौथा	२५		

पाँचवाँ	२०	३६	६२
छठा	१६		
सातवाँ	१४	२६	
आठवाँ	१२		
नवाँ	११	२०	३५
दसवाँ	९		
ग्यारहवाँ	८	१५	
बारहवाँ	७		

मान लीजिए कि उस आदमी के द्रव्य की सीमांत उपयोगिता, अर्थात् उसके अंतिम रुपए की उपयोगिता, ६० है। जब चावल की क़ीमत आठ आने फ़ी-सेर होगी, तो वह चावल पर दो रुपए से अधिक ख़र्च न करेगा; क्योंकि तीसरा रुपया चावल पर ख़र्च करने से उसको चावल द्वारा केवल ३६ उपयोगिता प्राप्त होगी, और उसे अपने रुपए की ६० उपयोगिता दे देनी पड़ेगी। इस प्रकार चावल की आठ आने फ़ी-सेर क़ीमत पर उसकी माँग चार सेर होगी। अब मान लीजिए कि चावल की क़ीमत चार आने फ़ी-सेर हो गई; इस दशा में भी वह चावल पर दो रुपए ख़र्च करेगा; परंतु उसको इतने ख़र्च से आठ सेर चावल मिल सकेंगे। इसलिये उसकी माँग आठ सेर हो जायगी।

इससे सिद्ध हुआ कि जब पदार्थों की क़ीमत घटती है, तो माँग बढ़ती है। अब क़ीमत बढ़ने का एक उदाहरण देते हैं। मान लीजिए, चावल की क़ीमत आठ आने फ़ी-सेर से बढ़कर एक रुपया फ़ी-सेर हो गई। अब वह उस पर एक रुपए से अधिक ख़र्च न करेगा;

क्योंकि दूसरा रुपया ख़र्च करने से उसे चावल द्वारा ४८ उपयोगिता प्राप्त होगी, और उसे अपने रुपए की ६० उपयोगिता दे देनी पड़ेगी। इस प्रकार एक रुपया फ़ी-सेर चावल की क़ीमत पर उसकी माँग एक सेर होगी। इससे मालूम हुआ कि क़ीमत बढ़ने पर माँग घटती है।

अब ज़रा यह विचार करें कि यदि वह आदमी एकाएक किसी कारण धनवान् हो जाय, तो इस बात का उसकी माँग पर क्या प्रभाव पड़ेगा। यह तो स्पष्ट ही है कि धन की मात्रा बढ़ जाने से उपयोगिता-ह्रास-नियम के अनुसार उसके द्रव्य की सीमांत उपयोगिता कम हो जायगी। मान लीजिए कि वह ६० से ३५ हो गई, तो अब भिन्न-भिन्न क़ीमतों पर उसकी माँग इस प्रकार होगी—

चावल की फ़ी-सेर क़ीमत	चावल की माँग
एक रुपया	३ सेर
आठ आने	६ सेर
चार आने	१२ सेर

इससे पता चलता है कि धन के बढ़ जाने से माँग बढ़ जाती है।

माँग की लोच (Elasticity)—मूल्य के अल्प परिवर्तन से किसी वस्तु की माँग के बढ़ने या घटने के गुण को 'माँग की लोच' कहते हैं। जब किसी चीज़ की माँग मूल्य में थोड़ा-सा परिवर्तन होने से ही बहुत घट-बढ़ जाती है, तो कहा जाता है कि उसकी माँग लोचदार है।

जीवनोपयोगी पदार्थों का मूल्य बढ़ने पर भी साधारणतया मनुष्य उन्हें लगभग उतना ही ख़रीदते हैं, और सस्ता होने पर भी वे उनका बहुत अधिक उपभोग नहीं कर सकते। इसलिये इनकी माँग बे-लोच होती है। इसके विपरीत ऐश-आराम की चीज़ों की ख़रीद मूल्य बढ़ने पर बहुत कम, और मूल्य घटने पर अधिक, हो जाती है; इस प्रकार इनकी माँग लोचदार है। जितनी ही कोई चीज़ अधिक अनावश्यक होगी, उतनी ही उसकी माँग अधिक लोचदार होगी।

माँग बदलने के कारण फ़ैशन, रिवाज, उपभोक्ताओं की आयु, स्वास्थ्य, शिक्षा, रुचि और सभ्यता भी हैं।

उपभोक्ता की बचत—जिस पदार्थ के उपभोग करने से कुछ संतुष्टि मिलती है, उसे प्राप्त करने के लिये कुछ प्रयत्न करना या दाम ख़र्च करना पड़ता है। इसमें जो अंतर होता है, उसे उपभोक्ता की बचत (Consumer's Surplus) कहते हैं।

कभी-कभी उपभोक्ता की बचत का रुपयों में माप किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, कल्पना कीजिए कि एक आदमी को एक सेर आटे की अत्यंत आवश्यकता है, और अकाल के समय इतने आटे का वह एक रुपया देता है। पीछे मूल्य गिरकर आठ आना रह जाने पर वह दो सेर ख़रीद लेता है; परंतु वह पहले सेर के लिये एक रुपया दे देता, इसलिये उसे व्यय की अपेक्षा आठ आने का अधिक आनंद हुआ। यह उस उपभोक्ता की बचत हुई। अगर मूल्य गिरकर छः आने हो जाय, और वह तीन सेर ख़रीदे, तो उसकी बचत बारह आने होगी। इसी प्रकार अगर दर चार आने सेर होने पर वह चार सेर, तीन आने सेर होने पर पाँच सेर तथा दो आने सेर होने पर छः सेर ख़रीदे, तो उसकी बचत का हिसाब हम इस प्रकार दिखा सकते हैं—

माँग (सेर)	मूल्य प्रति सेर (आने)	वह दे देता (आने)	वह देता है (आने)	उपभोक्ता की बचत (आने)
१	१६	१६	१६	०
२	८	१६+८=२४	८×२=१६	८
३	६	१६+८+६=३०	६×३=१८	१२
४	४	१६+८+६+४=३४	४×४=१६	१८
५	३	१६+८+६+४+३=३७	३×५=१५	२२
६	२	१६+८+६+४+३+२=३९	२×६=१२	२७

दूसरा परिच्छेद
उपभोग की वस्तुएँ

उपभोग के पदार्थों का वर्गीकरण—मनुष्य जिन विविध प्रकार की अनेक वस्तुओं का उपभोग करते हैं, उनके पाँच भेद किए जा सकते हैं—

(१) **जीवन-रक्षक पदार्थ**—जो प्राण-धारण करने के लिये आवश्यक हैं; जैसे, साधारण अन्न, साधारण वस्त्र, साधारण मकान आदि। इन पदार्थों की माँग कम लोचदार होती है, और जैसे-जैसे इनकी क़ीमत बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे इन पदार्थों पर कुल ख़र्च बढ़ता जाता है।

(२) **निपुणता-दायक पदार्थ**—ये जीवन-रक्षक पदार्थों के अतिरिक्त वे पदार्थ हैं, जिनके उपभोग से मनुष्यों की कार्य-कुशलता इतनी बढ़ जाय कि उत्पादन-कार्य में उनकी क़ीमत से अधिक वृद्धि कर सकें। उदाहरणार्थ, पुष्टिकारक भोजन, स्वच्छ वस्त्र, अच्छे हवादार मकान आदि। इनकी माँग भी कम लोचदार होती है,

और जैसे-जैसे इनकी क़ीमत बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे इन पर ख़र्च भी बढ़ता जाता है।

(३) **कृत्रिम आवश्यकताओं की वस्तुएँ**—जो वास्तव में आवश्यक नहीं होतीं, परंतु रीति-रस्म, आचार-व्यवहार और आदतों के कारण आवश्यक समझी जाने लगती हैं। बहुधा इन वस्तुओं के लिये बहुत-से आदमी अपनी जीवन-रक्षक या निपुणता-दायक वस्तुओं में भी कुछ कमी कर देते हैं। उदाहरणार्थ, शराब, गाँजा, भाँग, तंबाकू, अफ़ीम, विवाह-शादियों में या जन्म-मरण के समय उपभोग की जानेवाली कई अनावश्यक वस्तुएँ। इनकी माँग भी कम लोचदार होती है, और जैसे-जैसे इनकी क़ीमत बढ़ती जाती है, इन पर कुल ख़र्च भी बढ़ता जाता है।

(४) **आराम की चीज़ें**—जिनके उपभोग से मनुष्य की कार्य-कुशलता बढ़ती है, परंतु उतनी नहीं, जितना उनमें ख़र्च हो जाता है। उदाहरणार्थ, मामूली मज़दूर के लिये साइकिल, बढ़िया कपड़े, क़ीमती मकान आदि। इनकी माँग साधारणतः लोचदार होती है, और जैसे-जैसे इनकी क़ीमत बढ़ती या घटती है, माँग भी प्रायः उसी अनुपात में घटती-बढ़ती है, जिससे उन पर किया जानेवाला कुल ख़र्च प्रायः एक-सा रहता है।

(५) **विलासिता की वस्तुएँ**—जिनके उपभोग से कार्य-कुशलता बढ़ती नहीं, बल्कि कभी-कभी उसके घटने की संभावना रहती है। जैसे, एक मामूली मज़दूर के लिये बहुत ही बढ़िया कपड़े, चश्मा, मोटर आदि। इनकी माँग बहुत लोचदार होती है, और जैसे-जैसे इनकी क़ीमत बढ़ती जाती है, इन पर होनेवाला ख़र्च कम होता जाता है।

स्मरण रहे कि जो चीज़ एक मनुष्य के लिये आराम या विला-सिता की वस्तु है, वही दूसरे के लिये निपुणता-दायक भी हो

सकती है। क़ीमत के अधिक बढ़ने से निपुणता-दायक वस्तुएँ आराम अथवा विलासिता की वस्तुएँ मानी जा सकती हैं।

उपभोग के पदार्थों का क्रम—आगे उपभोग किए जाने-वाले विविध पदार्थों का क्रम बतलाने का प्रयत्न किया जाता है। यह क्रम इस प्रकार है कि पदार्थों की माँग का क्षेत्र क्रमशः कम होता जाता है। पहले उन चीज़ों का उल्लेख किया जाता है, जो सबसे अधिक जन-संख्या में, निम्न श्रेणी के लोगों में, उपभोग की जाती हैं; फिर उनके बाद उनसे कम लोगों में उपभोग की जानेवाली चीज़ों का उल्लेख किया गया है—

(१) अनाज, नमक, बर्तन और वस्त्र—इनकी आवश्यकता सबको होती है। साधारणतः मिट्टी के बर्तन काम में लाए जाते हैं। हाँ, उच्च श्रेणी के बहुत-से हिंदू इन्हें अशुद्ध समझते हैं, और माँजने या धोने से इन्हें साफ़ नहीं मानते। जहाँ तक बन पड़ता है, वे रसोई में प्रायः धातुओं के ही बर्तन अधिकतर रखना चाहते हैं। जन-साधारण के लिये ऊन या रेशम का वस्त्र मिलना तो दूर रहा, रुई का भी अच्छा कपड़ा मुअस्सर नहीं होता; मामूली मोटा-झोटा थोड़ा-सा कपड़ा लपेटकर ही गुज़र करना पड़ता है।

(२) नशे या मादक द्रव्य—तंबाकू का सेवन यहाँ बहुत होता है। हुक्का प्रायः जाति या बिरादरी में सम्मिलित रहने का एक प्रामाणिक चिह्न माना जाता है। जाति-बहिष्कृत आदमी के बारे में कहा जाता है कि उसका हुक्का-पानी बंद है। तंबाकू से उतरकर ताड़ के रस का प्रचार है। फिर भंग और अफ़ीम का नंबर है। चाय का प्रयोग क्रमशः बढ़ता जाता है।

(३) अच्छा कपड़ा, भोजन, बर्तन और सामान्य आभूषण—तदुपरांत इन चीज़ों का नंबर आता है—कोट, छतरी, रैपर (wrapper*), जूते, कैनवस के बेग, थैलियाँ,

उसे अधिक-से-अधिक संतुष्टि मिले। इसके वास्ते उसे चाहिए कि वह विलासिता के पदार्थों का उपभोग छोड़ दे, और आराम के पदार्थों का उपभोग यथाशक्ति कम करे। कृत्रिम आवश्यकताओं का ख़र्च मनुष्यों की आदतों और रीति-रस्मों पर निर्भर रहता है, और ये सहसा नहीं बदलतीं। इसलिये इन पर किया जानेवाला ख़र्च एकदम कम नहीं किया जा सकता; परंतु धीरे-धीरे प्रयत्न करने से, कुछ समय में, थोड़ी-बहुत सफलता मिल सकती है। इस प्रकार इन मदों से अपने ख़र्च की बचत करके उसे निपुणता-दायक आवश्यकताओं की पूर्ति में लगाना चाहिए। इससे अंततः उसे अधिक संतुष्टि मिलेगी। यह बात पहले-पहल ठीक न जँचेगी। बहुधा आदमी अपनी निकटवर्ती संतुष्टि की ओर ध्यान देकर, उसकी प्राप्ति के लिये, अपनी आय ख़र्च करना अच्छा समझते हैं। परंतु यदि वे दूरदर्शिता से काम लें, और अपने उपभोग में उपर्युक्त परिवर्तन करें, तो निस्संदेह उन्हें अपनी भावी आवश्यकताओं के लिये चिंता करने का अवसर ही न मिले। ऐसा करने से उनकी कार्य-कुशलता, उत्पादन-शक्ति एवं आय बढ़ेगी, और फिर इस बढ़ी हुई आय का भी उसी प्रकार उपभोग करने पर वे अधिक लाभ एवं भावी संतुष्टि की वृद्धि का प्रबंध कर सकेंगे।

उपभोग का हिसाब—(१) नाज—पहले अन्न पर ही विचार करते हैं। भारतवर्ष में मध्यम और ऊँची श्रेणी के आदमियों का प्रधान भोजन गेहूँ और चावल है। प्रो० दयाशंकरजी दुबे ने अपने हिसाब में बतलाया है कि सन् १९११-१२ से सन् १९१९-२० तक, नौ वर्षों में, जितना चावल पैदा हुआ, उसमें से विदेश भेजे हुए की मात्रा निकाल देने पर यहाँ प्रति वर्ष चावल का औसत ख़र्च ८१·३ करोड़ मन रहा; अर्थात् प्रत्येक मनुष्य के हिसाब से वार्षिक औसत १३२ सेर और दैनिक औसत पौने छः छटाँक हुआ।

ी प्रकार गेहूँ का कुल वार्षिक औसत १७·६ करोड़ मन,
् प्रत्येक मनुष्य का वार्षिक औसत २८॥ सेर और दैनिक
ा १। छटाँक होता है।

ंस-भोजी अमेरिका के निवासियों का गेहूँ का प्रति मनुष्य
क उपभोग १६२ सेर, अर्थात् प्रति दिन दस छटाँक से भी अधिक,
है। उसकी तुलना में शाक-भोजी भारतवासियों के चावल और
 दैनिक उपभोग का, कुल मिलाकर, सात छटाँक होना यह
करता है कि हमारे बहुत-से आदमी, इन खाद्य पदार्थों को
ने की शक्ति न रखने के कारण, इनका यथेष्ट उपभोग नहीं
ाकते। बहुत-से आदमी घटिया अन्नों का उपभोग करते हैं,
अनेक तो भूखों ही मरते हैं।

ार, बाजरा, मकई, चना आदि पदार्थों की उपज का वार्षिक
त ७३·८ करोड़ मन हुआ। इसमें से, ·८ करोड़ मन बाहर
जाने के कारण, यहाँ ७३ करोड़ मन अन्न शेष रहा। फिर इसमें
ो कुछ पशुओं—घोड़े, गाय, बैल आदि—के लिये ख़र्च हुआ ही।
यदि उसका हिसाब न लगाया जाय, तो भी प्रति मनुष्य
अन्नों के दैनिक उपभोग का औसत सवा-सात छटाँक होता है।

२) नमक—सन् १६०३ ई० से पहले यहाँ नमक पर २॥)
ान टैक्स था। उस समय इसके, प्रत्येक आदमी के, वार्षिक
ोग का औसत पाँच सेर था। सन् १६११ में, जब कि टैक्स
मन था, इसके उपभोग का वार्षिक औसत फ़ी आदमी सवा-
सेर रहा। सन् १६२०-२१ में औसत छः सेर हुआ। अब फिर
बढ़ गया है। दरिद्र देशवासियों में यह वस्तु, जीवन-रक्षक होने
ी, एक विलास-सामग्री समझी जाती है, अतएव इसके उपभोग के
हो जाने की संभावना है। अन्य देशों में नमक के उपभोग का
मनुष्य वार्षिक औसत भारत से बहुत अधिक है। इसकी

आवश्यकता आदमियों के लिये ही नहीं, पशुओं के लिये भी होती है। परंतु महँगी के समय भारत के पशुओं की कौन कहे, आदमियों को भी नमक यथेष्ट मात्रा में नहीं मिलता।

(३) गुड़ और खाँड़—अधिकांश हिंदुओं-जैसे निरामिष-भोजी ग़रीब मनुष्यों के लिये भोज्य पदार्थों में खाँड़ ही एक विलास-सामग्री है। यह मिठाइयों में बहुत ख़र्च होती है, जिन्हें हिंदू, मुसलमान, ईसाई और योरपियन भी जन्मोत्सव, ब्याह-शादी, मृतक-संस्कार अथवा अन्य त्यौहारों या दावतों में बहुत खाते हैं। नगरों में बहुत-से विद्यार्थी तथा अन्य पेशेवाले बहुधा मिठाई का नाश्ता करते हैं। अब यहाँ की खाँड़ बाहर बहुत कम जाती है। विदेशी खाँड़ की खपत बढ़ती जा रही है। यद्यपि हिंदू इसे अशुद्ध मानते हैं, तथापि भारतवर्ष में इने-गिने बाज़ार ही ऐसे होंगे, जहाँ इसकी मिलावट न होती हो। दूकानदारों को बड़ा फ़ायदा इसमें यह है कि वे इसके साथ गुड़ आदि सस्ती चीज़ें मिलाकर सस्ती मिठाई तैयार कर सकते हैं; जो साधारणतः खूब खप जाती है। विदेशी खाँड़ की सफ़ेदी और चमक ऐसी होती है कि उसमें बहुत-सा गुड़ आदि पदार्थ मिलाने पर वह साधारण स्वदेशी खाँड़ की तरह ही दिखाई देती है। सन् १९१९-२० ई० में यहाँ गन्ने से बना हुआ गुड़ ९·१ करोड़ मन, खजूर से बना हुआ गुड़ ·८ करोड़ मन तथा देशी शक्कर १ करोड़ मन थी, और विदेशी शक्कर १·६ करोड़ मन आई। इस प्रकार कुल वार्षिक खपत ८·५ करोड़ मन, अर्थात् प्रति मनुष्य ११ सेर, हुई। विदेशी शक्कर का उपभोग कम करने के लिये हमें अपने यहाँ एक तो मिठाइयों का उपभोग ही कम कर देना चाहिए, दूसरे देशी शक्कर अधिक तैयार करनी चाहिए।

(४) कपड़े—सन् १९२०-२१ में यहाँ की मिलों द्वारा बुना हुआ कपड़ा १५८ करोड़ गज़ था, और जुलाहों द्वारा मिल के सूत से

बुना हुआ ६५ करोड़ गज़। विदेश से आया हुआ १५१ करोड़ गज़ था। यह कुल ४०३ करोड़ गज़ हुआ। इसमें से २१ करोड़ गज़ बाहर चले जाने से यहाँ ३८२ करोड़ गज़ कपड़ा शेष रहा। यह प्रति मनुष्य के हिसाब से, प्रति वर्ष, १२ गज़ होता है। सन् १९१९-२० में यह ९[illegible] गज़ और सन् १९१३-१४ में १७ गज़ बैठता था। इस हिसाब में यह मान लिया गया है कि इससे पूर्व वर्ष का जितना कपड़ा इस वर्ष में खपा होगा, उतना ही इस वर्ष का आगे के वर्ष के लिये रह गया होगा। फिर इस हिसाब में हाथ से कते सूत का कपड़ा शामिल नहीं है; जो अब की अपेक्षा पूर्व वर्षों में अवश्य ही कम रहा होगा। अस्तु। युद्ध के पहले की अपेक्षा सन् १९२०-२१ में कपड़े का उपभोग बहुत कम हुआ। इसमें कोई संदेह नहीं कि यहाँ बहुत-से आदमी आवश्यकतानुसार कपड़ा नहीं पा सकते। यहाँ सस्ते कपड़े की आवश्यकता है। विदेशी कपड़े के व्यवहार में दो दोष हैं। एक तो, बहुत-सा कपड़ा सस्ता दिखलाई पड़ने पर भी, कम-टिकाऊ होने के कारण, वास्तव में बहुत महँगा पड़ता है। दूसरे, यहाँ के असंख्य आदमियों का व्यवसाय मारा जाता है। इसलिये इसमें संदेह नहीं कि खद्दर से भारत का हित होगा।

(५) तंबाकू—बहुत-से लोगों के लिये यह पदार्थ आवश्यक हो गया है। अब नवयुवकों अथवा शौक़ीनों को हुक़ा अच्छा नहीं लगता; वे सिगरेट या बीड़ी पीते हैं, यद्यपि उनका धुआँ हुक़े के धुएँ से अधिक हानिकर है। तंबाकू का सेवन बहुत बढ़ गया है; और अब तो सिगरेट या बीड़ी का पीना, फ़ैशन में दाख़िल हो जाने के कारण, बढ़ता ही जाता है। मिलों में काम करनेवाले साधारण, निम्न श्रेणी के, मज़दूर अपने वेतन से चाहे जीवन-रक्षक पदार्थ यथेष्ट मात्रा में न पा सकें, परंतु इस शौक़ के लिये तो पैसे

निकाल ही लेते हैं । गाँव में रहनेवालों के लिये हुक्का समाज की एकता का चिह्न, तथा कार्य करके थक जाने पर विश्राम पाने का एक साधन, बन गया है । बहुतेरे आदमी तंबाकू पीते नहीं, तो सूँघते या खाते ही हैं । निदान बहुत कम आदमी ऐसे मिलेंगे, जो इसका बिलकुल व्यवहार नहीं करते ।

देश के जो आदमी इसका सेवन करते हैं, उनके प्रति दिन के उपभोग का औसत यदि एक पैसा भी माना जाय, तो पाठक हिसाब लगा सकते हैं कि देश का कुल कै करोड़ रुपया प्रति वर्ष इस मद में ख़र्च हो जाता है । एक लेखक ने तो हिसाब लगाकर दिखाया है कि इससे प्रति वर्ष कम-से-कम दो अरब रुपए व्यर्थ जाते हैं । स्वास्थ्य-हानि रही अलग । फिर सिगरेट-बीड़ी पीनेवालों ने देश में दियासलाई का भी ख़र्च बेहद बढ़ा दिया है । दियासलाई विदेशों से आती है । अतएव उसके लिये इतना रुपया प्रति वर्ष यहाँ से बाहर भेजकर देश को दरिद्र करने का उत्तरदायित्व इन्हीं लोगों पर है ।

(६) मादक द्रव्य—निम्न श्रेणी के बहुत-से आदमी भाँग, गाँजा, चरस और अफ़ीम आदि का सेवन करते हैं । आधुनिक समाज-सुधार के उद्योग में इन पदार्थों के उपभोग को कम करने का प्रयत्न किया जा रहा है; परंतु अभी बहुत कुछ कार्य करने की आवश्यकता है ।

पाश्चात्य सभ्यता के संसर्ग से मद्य-पान का घातक प्रचार बढ़ता जा रहा है । यद्यपि भारतवर्ष के दोनों प्रधान धर्म, हिंदू-मत और मुसलमानी मज़हब इसके सेवन की निंदा करते हैं, तथापि निम्न श्रेणी के लोग नशा अधिकाधिक बढ़ाते जा रहे हैं । बंबई के बहुत-से मज़दूर और पंजाब के किसान अपनी बहुत-सी गाढ़ी कमाई इसमें व्यय करके अपना और अपने परिवारों का जीवन दुःखमय बनाते हैं । उस

श्रेणी के वे मनुष्य, जो विलायती ढंग से रहने लगे हैं, मद्य-पान से परहेज़ नहीं करते । कुछ आदमी, अपनी बिरादरी से छिपाकर, इसका सेवन करते हैं । शिक्षा पाए हुए कुछ मनुष्य मादक वस्तु-प्रचार-निरोध (Temperance)-सभाएँ क़ायम करके उसके विरुद्ध लोक-मत तैयार कर रहे हैं ; परंतु कई स्थानों में, अधिकारियों की टेढ़ी निगाह और अन्य सरकारी बाधाओं के कारण, उन्हें यथेष्ट सफलता नहीं मिली । खेद की बात है कि सरकार मादक द्रव्यों की आय की वृद्धि को बुरा नहीं समझती । सन् १९०९-१० ई० में सरकार को यहाँ फ़ी आदमी ६ आने ११ पाई आय हुई थी । सन् १९१९-२० में यह आय बढ़कर १२ आने १ पाई हो गई । बंबई में तो इस आय का औसत फ़ी आदमी १ रु० ४ आ० ८ पाई और मध्य-प्रांत में १ रु० ११ पाई था । तंबाकू का हिसाब अलग ही रहा । इसके संबंध में पहले लिख चुके हैं । दरिद्र भारत अपना रुपया इस प्रकार नशे में उड़ावे, यह अत्यंत शोक की बात है । देश-हितैषी इस प्रश्न पर ध्यान देने की कृपा करें ।

तीसरा परिच्छेद

उपभोग और रहन-सहन

भारतवासियों का रहन-सहन—मनुष्य जिन-जिन वस्तुओं का उपभोग करता है, उनसे उसके रहन-सहन का अनुमान किया जा सकता है । साधारणतः अब भारतवर्ष में निर्धनता का साम्राज्य है । अधिकांश निवासियों का भोजन बहुत घटिया दर्जे का और निवास-स्थान प्रायः अस्वच्छ रहता है । देश में मनोरंजन के सामान, वाचनालय, पुस्तकालय, उद्यान, व्यायाम तथा क्रीड़ा-शालाएँ बहुत कम हैं ।

सर्व-साधारण जन-समुदाय के लगभग तीन-चौथाई आदमी प्रत्यक्ष अथवा गौण रूप से कृषि पर निर्वाह करते हैं। भारतीय किसान बहुत मितव्ययी होते हैं। वे मामूली छप्पर की झोपड़ी या मिट्टी के कच्चे मकान में रहते हैं। उनकी आवश्यकताएँ बहुत कम होती हैं, और उनकी पूर्ति उन स्थानीय कारीगरों और मज़दूरों द्वारा हो जाती है, जिन्हें वे बहुधा अपनी फ़सल का ही कुछ भाग दे देते हैं। धार्मिक विचार भी उन्हें अनेक विदेशी वस्तु, साबुन, भोजन के तैयार पदार्थ और चमड़े को (सिवा जूते के) काम में लाने से रोकते हैं। जल-वायु गरम होने के कारण वस्त्रों की आवश्यकता भी विशेष नहीं होती। दिहातों में रहनेवाले ९० फ़ी सदी आदमी हल जोतकर या पशु पालकर निर्वाह करते हैं। उनकी तमाम आमदनी अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने में ही व्यय हो जाती है। ऐशो-आराम का सामान—चाहे वे विदेशी हों या स्वदेशी—ख़रीदने की उनमें सामर्थ्य नहीं।

हमारे शहरों में १८ फ़ी सदी आदमियों की जीविका कृषि पर निर्भर है, और २४ फ़ी सदी विविध प्रकार के भौतिक पदार्थ तैयार करने में लगे रहते हैं। यहाँ औसत से ३८ आदमियों पीछे एक व्यापार करता है। भारतवर्ष के औसत दर्जे के पुरुषों का जीवन इँगलैंड-जैसे धनी देश के नितांत निर्धन आदमी के जीवन से मिलता-जुलता है।

सभ्यता की वृद्धि से मनुष्यों की आवश्यकताओं की संख्या धीरे-धीरे बढ़ा करती है। इस बात का अनुभव सभी देशों में—भारत में भी—हो रहा है। बहुधा शक्ति-संपन्न या फ़ैशन-पसंद आदमी अपने बच्चों के लिये विलायती ढंग के कपड़े सिलवाते, उन्हें बूट जूते पहनाते, और विदेशी खिलौने लाकर देते हैं। यहाँ तक कि यदि हो सकता है, तो उनके लिये ट्राइसिकल

अथवा हाथ से चलानेवाली छोटी बग्घी ख़रीद देते हैं। इन बच्चों में से बहुत-से, बड़े होकर, फ़ैशन में कुछ और आगे क़दम बढ़ाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक अगली पीढ़ी में रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होता जाता है, या यों कहिए कि दिखावटी सुख बढ़ता जाता है।

इसमें संदेह नहीं कि देश की आंतरिक शांति और पाश्चात्य सभ्यता के संसर्ग से यहाँ के कुछ लोगों के धन में कुछ वृद्धि अवश्य हुई है, तथा अन्य धनी देशों के रहन-सहन का ज्ञान हो जाने के कारण जनता के हृदय में नवीन विचारों का समावेश हो रहा है। लूट-मार का भय हट जाने से अमीर लोगों को अब अपनी अमीरी प्रकट करने का अवसर मिल गया है। इससे भी देश में सुख कुछ बढ़ता नज़र आ रहा है।

रहन-सहन की निकृष्टता—प्रत्येक समाज में निर्धन, साधारण और धनवान्, सब प्रकार के आदमी पाए जाते हैं। अभी तक, अच्छी तरह से जाँचकर, यह जानने का प्रयत्न बहुत कम लोगों ने किया है कि भारतवर्ष में फ़ी सैकड़ा कितने-कितने आदमियों का रहन-सहन कैसा-कैसा है। हाँ, कहीं-कहीं पारिवारिक आय-व्यय के संबंध में कुछ जाँच अवश्य हुई है। किंतु उससे संपूर्ण देश के संबंध में कुछ ख़ास ब्यौरेवार परिणाम नहीं निकाले जा सकते। इस विषय का विवेचन आगे किया जायगा। अस्तु।

वर्तमान परिस्थिति में हमें अप्रत्यक्ष (Indirect) आधारों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। निम्न-लिखित कारणों से मालूम होता है कि यहाँ बहुत नीचे दर्जे के रहन-सहनवालों की संख्या बहुत अधिक है। संभवतः वह तीन-चौथाई से भी अधिक होगी—

(१) आमदनी का बहुत कम होना। यह पहले बताया जा चुका है कि यहाँ के निवासियों की वार्षिक औसत आय ३६) रु० है। जो पुरुष निर्धनता का जीवन व्यतीत करते हैं, उनका रहन-सहन

नीचे दर्जे का होना स्वाभाविक ही है।

(२) हम पहले बता आए हैं कि यहाँ अन्न-वस्त्रादि आवश्यक पदार्थों के फ़ी आदमी वार्षिक औसत उपभोग की मात्रा बहुत कम रहती है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि यहाँ अधिकांश भारतवासियों का रहन-सहन नीचे दर्जे का है।

(३) यहाँ मृत्यु-संख्या का औसत फ़ी-हज़ार ३३ है, और औसत आयु केवल २४.९ वर्ष। इससे भी अधिकांश जनता का रहन-सहन नीचे दर्जे का साबित होता है।

रहन-सहन के संबंध में सरकारी मत—ग़ैर-सरकारी विद्वानों से मत-भेद रखते हुए सरकारी अधिकारी आराम और विलासिता के सामान के आयात की वृद्धि दिखाकर यह प्रमाणित करते हैं कि यहाँ के निवासियों के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होता जा रहा है। उदाहरणार्थ, वे आयात के नीचे दिए हुए अंक देते हैं। ये सब लाख रुपयों में दिए गए हैं। युद्ध के समय से पदार्थों का मूल्य बहुत बढ़ गया है, अतः तुलना की सुविधा के लिये केवल पहले के अंक लिए गए हैं—

पदार्थ	१९०८	१९०९	१९१०	१९११	१९१२	१९१३
खाँड़	१०,६२	११,१५	१२,६२	९,९६	१३,७८	१४,४७
मिट्टी का तेल	३,३२	२,५१	२,३७	३,२५	२,५६	२,८६
रुई के कपड़े	३२,२०	३२,८२	३७,५४	४१,२०	५१,८०	६०,५४
रेशम	१,८५	१,८५	२,३०	२,१५	२,५५	२,५२
ऊनी कपड़े	२,३८	१,५८	२,४३	२,७९	२,४०	३,०६
बिसाती का सामान	१,९५	१,९२	२,८४	२,८५	२,७५	३,०६

जूते	३६	५७	४६	५५	६५	७४
ताँबा, सोना	१,६६	१,६६	२,२२	१,६२	१,७६	२,५१
दियासलाई	७५	८२	८४	८८	६८	६०
साबुन	४१	४५	५३	६२	७०	७४
सुपारी	८७	८८	१,०८	१,०५	१,१८	१,२३
कलई की हुई लोहे की चद्दर	१,६७	२,४२	३,४५	२,६८	८,८३	५,३८

अधिकारियों का कथन है कि इन पदार्थों के आयात की वृद्धि से इनका अधिक उपभोग स्पष्ट है । इसके अतिरिक्त अब बहुत-से दिहातवाले कच्चे और छप्पर के मकानों को छोड़कर पक्के मकान बनवा रहे हैं । किसानों के लड़के अँगरेज़ी ढंग की कमीज़, कोट तथा जूते पहनने और छतरी लगाने लगे हैं । कितने ही मामूली नौकर या श्रमजीवी भी विशेष अवसरों पर सोडा-वाटर या बर्फ़ का पानी पीते हैं । चाय और सिगरेट का प्रचार बढ़ता जा रहा है । ऐसी ही बातों से वे रहन-सहन के दर्जे का ऊँचा होना सिद्ध करते हैं ।

रहन-सहन के संबंध में प्रजा-मत—परंतु इस देश के निवासी भुक्त-भोगी सज्जनों का मत कुछ और ही है । ये सरकारी मत का खंडन करते हुए कहते हैं कि उपर्युक्त आधार पर भी, रेल-तार आदि के उपयोग की वृद्धि देखकर भी, यह कहना तर्क-संगत नहीं कि इस समय यहाँ की जनता के सुख की वृद्धि हो रही है । सुविधा, ऐशो-आराम तथा भोग-विलास के पदार्थों के सेवन की ओर झुकना मनुष्य-मात्र की प्रकृति है । इसलिये हमारे दरिद्र बंधु भी कभी-कभी उनमें पैसा लगा देते हैं । यदि ये न होते, तो संभव था कि यह पैसा उन भाइयों के भरण-पोषण में व्यय होता ।

हम बहुधा देखते हैं कि मज़दूरों या भिखारियों के लड़के बाज़ारों में, मुँह में सिगरेट दबाए या बालों में तेल लगाए, घूमते हैं। इससे यह अनुमान करना सरासर भूल है कि उनके रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होता जा रहा है।

इसी प्रकार, यदि कुछ मनचले रईसों, नवाबों या राजकुमारों की आवश्यकता के लिये विदेशी जहाज़, कुछ टीम-टाम या शान-शौक़त का सामान लाकर, यहाँ के आयात को बढ़ाते हैं, तो इससे भी जन-साधारण को अधिक सुखी होने का सर्टीफ़िकेट नहीं दिया जा सकता।

वास्तविक बात तो यह है कि यहाँ की जनता को न तो पहले के समान भर-पेट और पुष्टिकर भोजन मिलता है और न काफ़ी कपड़े ही। अतएव उनका रहन-सहन गिर रहा है, यह स्पष्ट है।

जीवन-निर्वाह-संबंधी ख़र्च की वृद्धि के कुछ परिणाम—रहन-सहन के दर्जे की उन्नति वास्तव में बहुत कम लोगों में हुई है, तथापि अब पदार्थों का मूल्य बहुत अधिक बढ़ जाने से वह बहुत ज़्यादा लोगों में मालूम पड़ती है। इसलिये उसके कुछ परिणामों पर नीचे विचार किया जाता है—

(१) प्राचीन समय से यहाँ दान-पुण्य की विशेषता रही है। हमारे लाखों दरिद्र भाई अथवा पंडे और पुजारी दान-धर्म के आश्रय से ही अपना निर्वाह करते रहे हैं। लेकिन अब गृहस्थों को अपनी ही आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये बहुत ख़र्च करना पड़ता है। अतएव यह स्पष्ट है कि दान-पुण्य या तीर्थ-यात्रा आदि में ख़र्च करने के लिये लोगों को सामर्थ्य कम रहेगा। संभव है, दान-धर्म के कार्य अन्य शैली से चलाए जायँ; ऐसे अनाथालय या यतीमख़ानों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़े, जहाँ जीविका-प्राप्ति के काम सीखने और शिक्षा प्राप्त करने की व्यवस्था हो।

(२) जीवन-निर्वाह के लिये अधिक आय की आवश्यकता होने के कारण अब लोगों को अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक परिश्रम-शील और कष्ट-सहिष्णु होना पड़ेगा। दूसरों के आश्रित रहनेवालों की संख्या घटेगी। सबको अपनी स्वतंत्र जीविका का प्रबंध करना होगा। संयुक्त कुटुंब-प्रणाली टूट जायगी।

(३) विवाह के समय मनुष्यों को यह विचार करना पड़ेगा कि क्या वे अपने कुटुंब का पालन करने के लिये काफ़ी रक़म पैदा करते हैं। अतः विवाह अधिक आयु में होंगे। कुछ मनुष्य ऐसे रहा करेंगे, जिन्हें शायद विवाह करने के योग्य आर्थिक स्थिति जन्म-भर प्राप्त न हो। यदि ये यथेष्ट संयमशील न हुए, तो दुराचार बढ़ सकता है।

(४) पूर्वजों के समय की बहुत-सी रीति-रस्में अनावश्यक समझी जाकर छोड़ दी जायँगी। अपव्यय घटेगा, और यदि शौक़ीनी से नई आवश्यकताएँ बहुत बढ़ गईं, तो जीवन-रक्षक या निपुणता-दायक पदार्थों के उपभोग में कमी हो जायगी।

रहन-सहन के दर्जे का ऊँचा होना उसी हालत में अच्छा है, जब मनुष्य जीवन-रक्षक और निपुणता-दायक पदार्थों के उपभोग में वृद्धि करे। आय न बढ़ने पर भी यदि फ़ैशन की ऐसी कृत्रिम आवश्यकताएँ पैदा कर ली जायँ, जिनके वास्ते हमें वास्तविक जीवन-रक्षक आवश्यकताओं की पूर्ति से भी वंचित रहना पड़े, तो उसे कभी उन्नति का लक्षण नहीं माना जा सकता। बहुत-से स्थानों में लोग चाय और सोडा-वाटर आदि का सेवन करने के लिये घी-दूध के उपभोग में कमी करते हैं। हम इसे कदापि अच्छा नहीं समझ सकते।

रहन-सहन के दर्जे के ऊँचे होने की आवश्यकता—अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि भारत में लोगों के रहन-सहन के

दर्जे के ऊँचे होने की कहाँ तक आवश्यकता है। पहले यह समझ लेना चाहिए कि हमारे इस कथन का अभिप्राय क्या है। रहन-सहन के दर्जे के ऊँचे होने से अभिप्राय यह नहीं है कि देश के आदमियों में विलास-वस्तुओं के उपभोग की वृद्धि हो, और यह भी नहीं है कि आराम देनेवाले अथवा कृत्रिम आवश्यकताओं के पदार्थों की भरमार हो। इस कथन से हमारा अभिप्राय यह है कि पहले जीवन-रक्षक आवश्यकताओं की पूर्ति हो, फिर निपुणता-दायक पदार्थों का अधिक उपभोग हो। इसके पश्चात् कुछ थोड़े-से आराम के पदार्थों का उपयोग हो सकता है।

१०-२० फ़ी सदी आदमियों के रहन-सहन के दर्जे के ऊँचे होने से ही किसी देश के रहन-सहन का दर्जा उन्नत नहीं कहा जा सकता। देश के सब आदमियों का जीवन सुखमय होना चाहिए—ऐसे आदमी बिलकुल न रहें, जो अपने जीवन-रक्षक पदार्थों के लिये ही शोकातुर हों। तभी देश के रहन-सहन के दर्जे का ऊँचा होना यथार्थ में माना जा सकता है।

रहन-सहन का दर्जा ऊँचा करने के साधन—रहन-सहन ऊँचा करने के मुख्य चार साधन हैं—(१) इंद्रिय-निग्रह, (२) शिक्षा, (३) यात्रा और अनुकरण, और (४) स्थानांतर-गमन।

इंद्रिय-निग्रह जितना अधिक होता है, उतनी ही जन-संख्या की वृद्धि भी कम होती है, और देश में जन-संख्या कम होने से उन्हें उपभोग के लिये पदार्थ अधिक मात्रा में मिलते हैं। भारतीय जन-संख्या की समस्या के संबंध में पहले ही लिखा जा चुका है।

यथेष्ट शिक्षा की प्राप्ति से मनुष्य अधिक निपुण होता है, और उसकी आय बढ़ती है। इससे उसके रहन-सहन का दर्जा ऊँचा

होना स्वाभाविक है। शिक्षित आदमी दूरदर्शी अधिक होते हैं। उनमें संतान-वृद्धि कम होती है। शिक्षा-प्रचार के संबंध में पहले ही प्रसंगानुसार लिखा जा चुका है।

यात्रा से मनुष्य बाहर का अनुभव प्राप्त करते और दूसरों की अच्छी बातों का अनुकरण करना सीखते हैं। इससे धीरे-धीरे रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होता जाता है। भारत में यद्यपि रेलों तथा सड़कों की वृद्धि से यात्रा में पहले की अपेक्षा अधिक सुविधा हो गई है, तथापि और भी अधिक की जाने की गुंजाइश है। इससे यथेष्ट लाभ उठाया जाना चाहिए।

स्थानांतर-गमन का रहन-सहन के दर्जे पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि किसी जगह एक पेशे के आदमी अधिक हों, और उनकी आय कम हो, तो कुछ आदमियों के वहाँ से बाहर, दूसरे उपयुक्त देश में, जाकर बसने से उनकी आय बढ़ेगी, एवं उनके रहन-सहन का दर्जा भी ऊँचा हो जायगा।

चौथा परिच्छेद

पारिवारिक आय-व्यय

पारिवारिक आय-व्यय के ज्ञान की आवश्यकता—उपभोग में पारिवारिक आय-व्यय एक आवश्यक विषय है। इससे आदमियों की ग़रीबी या अमीरी का पता लगता है। इँगलैंड और अमेरिका में रोवेंट्री और बूथ-जैसे विद्वानों ने अपने देशवालों की दशा जाँचकर कई प्रामाणिक ग्रंथ लिख डाले हैं। परंतु भारतवर्ष में सरकार या जनता, किसी ने भी इस विषय का यथेष्ट विवेचन नहीं किया। उत्साही नवयुवकों को यह कार्य

शीघ्र ही अपने हाथ में ले लेना चाहिए। इसके विना देशवासियों की दशा सुधारने में विशेष सफलता न होगी।

एक उदाहरण—पटना-कॉलेज की चाणक्य-सोसाइटी इस विषय में बड़ा उपयोगी कार्य कर रही है। उसकी सन् १९१८-१९ की रिपोर्ट में कई परिवारों के आय-व्यय के उदाहरण दिए गए हैं। उन्हें विविध सज्जनों ने बड़े परिश्रम से तैयार किया है। उनमें से यहाँ एक उदाहरण दिया जाता है। इससे पारिवारिक आय-व्यय का हिसाब लिखने का ढंग मालूम हो जायगा। यह आय-व्यय भूलन कुर्मी का है; जो पाँचलखी-ग्राम, ज़िला-सारन (बिहार) में रहता है। इसका श्रीशिवनंदनप्रसादजी वर्मा ने संकलन किया है। इसके आरंभ में लेखक महाशय, अपनी प्रस्तावना में, लिखते हैं—"मैं इस नगर का एक निवासी हूँ, और मैंने जून, सन् १९१७ से मई, १९१८ तक के बजट के लिये सामग्री एकत्र की है। यह सामग्री मैंने स्वयं भूलन तथा उसके पुत्र से, जो मेरा ख़ास असामी है, इकट्ठी की है।"

(क) परिवार—इस गृहस्थ का कोई हिसाब नहीं रहता, इसलिये उसका पहले साल का आय-व्यय नहीं जाना जा सका। हाँ, इतना अवश्य मालूम हुआ कि उस पर कोई क़र्ज़ न था। इस कुटुंब की दशा गाँव के अन्य कुटुंबों के समान है। यह कुटुंब बहुत ही शांतिप्रिय है, और अपने पड़ोसियों की, विपत्ति के समय, आर्थिक तथा शारीरिक सहायता करने के लिये उद्यत रहता है। अपने रहन-सहन में बहुत ही सादा है। भूलन कभी किसी मुक़दमे के लिये कचहरी नहीं गया।

इस कुटुंब में कुल ५ प्राणी हैं—भूलन, उसका पुत्र सुकथा, पुत्र-वधू, पोता शिवपूजन और एक पोती। भूलन इस घर का मुखिया है। उसकी उम्र लगभग ५५ वर्ष की है। उच्च जातियों में

रस्म यह है कि घर के प्रत्येक व्यक्ति की जन्म-पत्री रहती है। परंतु शूद्रों में जन्म-पत्री नहीं रखते। इसलिये उनके किसी आदमी की ठीक-ठीक आयु जानने में बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। भूलन ने अपनी आयु केवल अनुमान से बतलाई। इतना वृद्ध होने पर भी भूलन बड़ा हृष्ट-पुष्ट है। जिस उम्र में साधारणतः लोगों के बाल सफ़ेद हो जाते और दाँत गिर जाते हैं, उस उम्र में भूलन के बाल काले हैं, और दाँत ज्यों-के-त्यों मज़बूत हैं। वह कड़ी-से-कड़ी चीज़ खा सकता है। वह सुकथा की स्त्री की बीमारी में परिवार के लिये भोजन बनाता है। जब वह लगभग ४० वर्ष का था, उसकी स्त्री का, ३३ वर्ष की आयु में, देहांत हो गया था।

सुकथा ३० वर्ष का है। वह लंबा और मज़बूत है। सुकथा की स्त्री २८ साल की है। शिवपूजन साढ़े चार साल का है, और सुकथा की लड़की एक साल की।

केवल भूलन और सुकथा कृषि-कार्य करते हैं। वे स्वयं हल जोतते, मिट्टी खोदते, खेतों में खाद डालते, बोते और फ़सल काटते हैं। कार्य की अधिकता के कारण उन्होंने गो-पालन का कार्य एक दूसरे आदमी को सौंप दिया है। उसे वे ६) रु० साल देते हैं। जब कृषि-कार्य समाप्त हो जाता है, तब भूलन और सुकथा, दोनों मज़दूरी करने लगते हैं। इस दशा में उन्हें प्रति दिन ढाई-ढाई आने और कुछ कलेवा मिलता है।

भूलन को वर्ष में कुछ दिन अपने मालिक के यहाँ विविध कार्य करने पड़ते हैं। उन दिनों उसे दो आने रोज़ मिलते हैं। कभी-कभी, विशेष अवसरों पर, मालिक उसके परिवार को भोजन कराता है।

भूलन अपने पड़ोस के एक ज़मींदार की खेती की देख-रेख करता है। इस कार्य के बदले उसे प्रति वर्ष ३६) रु० और चार मन नाज मिलता है।

सुकथा की स्त्री घर का काम निपटाती, रसोई करती, और उपले थापती है।

(ख) संपत्ति—(१) ज़मीन। उसके पास चार बीघे भूमि बटाई की और तीन बीघे नक़दी है। इसके लिये मालिक को १२) रु० देने पड़ते हैं। दो कट्ठे * ज़मीन ऐसी है, जिस पर लगान नहीं देना पड़ता। इसमें उसका घर और पशुओं के रहने की जगह है। उसकी इस मिलकियत की क़ीमत का अनुमान ८५०) रु० है।

(२) घर। मकान कच्चा है। ऊपर छप्पर है। इसमें तीन कोठे और एक चौक है। एक कोठा १३½×७½ वर्ग-फ़ीट है। इसमें रसोई होती है, और यह सोने के काम में भी आता है। दूसरे कोठे की लंबाई-चौड़ाई भी लगभग इतनी ही है। तीसरा कोठा १६½×७½ वर्ग-फ़ीट है। इसमें पशु रहते हैं। मकान की क़ीमत का अनुमान ६०) रु० है।

(३) पशु। पशुओं का हिसाब इस प्रकार है—

२ गउएँ	४२) रु०
१ बैल	४०) रु०
१ बछड़ा	२२) रु०
योग	१२४) रु०

जब भूलन को अपनी ज़मीन जोतनी होती है, वह अपने पड़ोसी से एक बैल माँग लेता है, और इसी प्रकार पड़ोसी, अपनी ज़रूरत के समय, भूलन से उसका बैल ले लेता है। इस तरह उसे खेती के काम में कोई असुविधा नहीं होती।

---

* खेत नापने के लिये एक नाप, जो पाँच हाथ चार अंगुल की अथवा जरीब का बीसवाँ भाग होती है।—संपादक

(४) घर का सामान	रु० आ० पा०
२ कुदाल	५—०—०
२ गड़ाँसी	१—०—०
४ खुर्पी	१—०—०
१ कुल्हाड़ी	२—८—०
१ छोटी कुल्हाड़ी	१—८—०
१ प्रहसूल (दराँत)	०—६—०
४ दराँती	१—०—०
१ हिरगा (?)	०—८—०
२ लाठी	२—०—०
१ उखली	०—८—०
१ सिल और लोढ़ा	०—१०—०
२ मूसल	०—१२—०
१ चक्की	१—८—०
२ सूप	०—४—०
१ छलनी	०—२—०
३ टोकरी	०—६—०
२ डौरा या दरा*	०—८—०
४ डलिया	०—६—०
४ नाँद	०—८—०
२ सींके	०—२—०
२ कूँड़े	०—२—०
८ गागरी	०—४—०
१ कलसा	४—०—०

* एक प्रकार की टोकरी ।

	रु० आ० पा०
१ डोल	१—०—०
२ लोटे	३—०—०
१ गंगा-सागर	४—०—०
१ तसला	२—८—०
१ तवा	०—१२—०
१ कढ़ाई	१—४—०
२ थाली	५—०—०
१ कर्छी	०—१०—०
४ चटाई और फ़र्श	२—०—०
२ खटिया	४—०—०
२ कंबल	६—०—०
२ गिलाफ़	६—०—०
योग	६४—०—०

(५) समस्त संपत्ति का ब्यौरा

भूमि-संबंधी संपत्ति (नक़दी)	४५०—०—०
,, ,, (बटाई)	४००—०—०
मकान	६०—०—०
पशु	१२४—०—०
घर का सामान	६४—०—०
आभूषण	३०—०—०
समस्त योग	११२८—०—०

(ग) ऋण—चार-पाँच साल पहले भूलन के ऊपर, लड़की (जो मर चुकी है) के विवाह में, ३०) रु० ऋण हो गया था। वह उसी वर्ष अदा कर दिया गया ; अब इस परिवार पर कोई ऋण नहीं है।

(घ) भोजन—बड़ी उमर के आदमी सुबह-शाम कुछ नाश्ता-सा करने के अतिरिक्त दो बार खाते हैं। छोटी आयुवाले चार-पाँच बार थोड़ा-थोड़ा खाते हैं। अधिकतर रोटी, भात या सत्तू खाया जाता है।

दैनिक भोजन के नाज की तौल दस सेर कच्ची* होती है। बच्चे हर रोज़ दूध पीते हैं, परंतु भोजन के साथ घी हमेशा नहीं खाते। बड़ी उमरवाले कभी-कभी ही दूध पीते हैं, परंतु छाछ का सेवन अक्सर होता है। दूध, घी और छाछ अपनी गाय से मिल जाती है। वर्षा में वे मछली खाते हैं। कारण, उन दिनों वे तालाबों में अच्छी तरह, बिना ख़र्च किए, पकड़ी जा सकती हैं। मांस के लिये उनके पास काफ़ी दाम नहीं होते। वे गेहूँ, जौ, बाजरा, मरुआ, मकई तथा चावल खाते हैं। साग अपने खेत में बो लेते हैं; कभी-कभी बाज़ार से भी लाते हैं। आम के मौसम में चटनी से काम चला लेते हैं। नमक और मसाले उन्हें ख़रीदने पड़ते हैं।

(च) वस्त्र—मालिक के यहाँ से, ब्याह-शादी या पुत्र-जन्मोत्सव के समय, भूलन को धोती और अँगोछा मिलता है। पर उसे अपने लिये एक धोती और गमछा, सुकथा के लिये धोतियाँ और अँगोछे और इसी प्रकार सुकथा की स्त्री के लिये साड़ियाँ ख़रीदनी पड़ती हैं। बच्चे सिर्फ़ कुर्ते पहनते हैं; जिनके लिये कपड़ा ख़रीदना पड़ता है।

(छ) वार्षिक आय	रु० आ० पा०
भूमि से आय	२८२—०—०
पशुओं से आय	२०—०—०
मज़दूरी और कमाई	६२—०—०
भेंट आदि	६—०—०
योग	३७०—०—०

---

* कच्चा सेर ४८ तोले का होता है।—संपादक

(ज) वार्षिक व्यय	रु० आ० पा०
बीज और उपभोग का अनाज	१४६—०—०
सब्ज़ी	६—०—०
नमक	५—०—०
मसाला	२—०—०
दूध	१४—०—०
मिठाई और चीनी	२—०—०
सरसों का तेल	२—०—०
घी	६—०—०
मछली और मांस	१—०—०
मादक पदार्थ	०—८—०
रोशनी करने का तेल	३—०—०
बर्तन	१५—८—०
दान (जिंस में)	०—८—०
औषधि और मंत्र-तंत्र	१—[illegible]—०
अतिथि-सत्कार	१—०—०
पूजा आदि	३—०—०
यात्रा	०—८—०
मकान की मरम्मत	२—०—०
कपड़े	२०—०—०
धोबी	०—८—०
पुजारी	१—०—०
नाई	०—८—०
कुम्हार	०—८—०
चमार	०—६—०
माली (नक़द तथा जिंस में)	०—८—०

नक़दी भूमि का लगान	१२—०—०
बटाई भूमि का लगान, जो मालिक को दिया	६८—०—०
भूमि-संबंधी अन्य व्यय	१—०—०
औज़ार	१०—०—०
लुहार	०—८—०
बढ़ई	०—४—०
कृषि-कार्य-संबंधी अन्य व्यय	२—०—०
ग्वाला	६—०—०
चौकीदारी टैक्स	०–१२—०
पशुओं का चारा आदि	१२—०—०
भेंट आदि विविध व्यय	४—०—०
योग	३९३–१४—०

(झ) वार्षिक बचत—उक्त वर्ष में १६=) बचे ; जिसमें से ९) का बीज था। यह बचत आगामी वर्ष ख़र्च की गई।

दूसरी जाँच—मेजर जैक ने फ़रीदपुर (बंगाल) के निवासियों के दो भाग किए हैं—कृषक और नागरिक । व्यय का हिसाब लगाने के लिये उन्होंने इन दो भागों के भी चार-चार विभाग कर लिए हैं—

(क) सुखी
(ख) कम सुखी
(ग) दुखी और
(घ) अत्यंत दुखी

इन चारों में से पहले और चौथे का, वार्षिक व्यय उन्होंने इस प्रकार लिखा है—

मद	सुखी का वार्षिक व्यय		अत्यंत दुखी का वार्षिक व्यय	
	कृषक	नागरिक	कृषक	नागरिक
चावल	१२०)	१२०)	६०)	६०)
नमक	२)	२)	१॥)	१॥)
तेल	६)	६)	३)	३)
मसाला	२)	३॥)	१)	१॥)
मछली	५)	७॥)	...	२।)
दाल	...	७॥)	...	२।)
तरकारी	७॥)	३)	१॥)	१॥)
घी-दूध	३)	४॥)	१॥)	१॥)
मिट्टी का तेल	२)	२)	१)	।=)
तंबाकू	२)	३॥)	॥)	...
सुपारी	३)	३)	१)	।॥)
कपड़ा	२५)	२५)	६)	१०)
बर्तन	१)	२।)	१)	२)
मकान की मरम्मत	५)	७॥)	१॥)	२।)
फ़र्नीचर	३)	७॥)	१॥)	...
मकान का किराया	२५)	५॥)	४॥)	१॥=)
दवा	५)	११)	१॥)	१॥=)
टैक्स	१॥)	१॥)	।॥)	।=)
पशु	८)	...	१॥)	...
नाव का किराया	१)	...	...	...
मकान की पूरी मरम्मत	८)	१५)	३॥)	३॥)
त्योहार आदि	१५)	११)	३॥)	३॥)
योग	२५०)	२५०)	१००)	१००॥)

ऊपर दी हुई तालिका से मालूम होगा कि सुखी कृषक-कुटुंब के खाने का व्यय कुल व्यय का ५८ प्रति शत और अत्यंत दुखी का ६६ है। मेजर जैक ने कृषकों में से ४६ प्रति शत को सुखी, २८ प्रति शत को कम सुखी, १८॥ प्रति शत को दुखी और ४॥ प्रति शत को अत्यंत दुखी कहा है। इसी प्रकार उन्होंने नागरिकों में से ४७ प्रति शत को दुखी, और ५॥ प्रति शत को अत्यंत दुखी माना है। उनका अनुमान है कि साधारण भारतवासी, विशेषतः कृषक, अपनी आय की आधी रक़म से लेकर कहीं-कहीं दुगुनी रक़म तक के ऋणी हैं।

यद्यपि उपर्युक्त हिसाब बिलकुल ठीक नहीं कहा जा सकता, तथापि इससे कुछ-न-कुछ अंदाज़ा लग जाता है। इस हिसाब में मुक़द्दमे-बाज़ी, शराब-ख़ोरी तथा शिक्षा आदि का ख़र्च नहीं लिखा गया है; बहुत-सी बातों का ख़र्च अधिक या कम भी लिखा गया है।

तीसरी जाँच—पूना-कृषि-कॉलेज के भूतपूर्व प्रिंसिपल डॉक्टर मैन ने दक्षिण-भारत के दो गाँवों की आर्थिक दशा की, बहुत सूक्ष्म रूप से, जाँच की है। अपनी जाँच की रिपोर्ट उन्होंने दो जिल्दों (Land and Labour in a Deccan Village Study Nos. 1 & 2.) के रूप में प्रकाशित कराई है। इन गाँवों के नाम हैं—पिंप्ला सौदागर और जटगाँव बुदरुक। डॉक्टर मैन ने इन गाँवों के रहनेवालों को तीन श्रेणियों में बाँट दिया है।

पहली श्रेणी में उन्होंने उन किसानों को रक्खा है, जिनकी खेती की ही आमदनी इतनी है कि वे साधारण वर्ष में अपना जीवन-निर्वाह अच्छी तरह कर सकते हैं। दूसरी श्रेणी में उन्होंने उन किसानों को रक्खा है, जिनकी सब प्रकार की आमदनी इतनी है कि वे साधारण वर्ष में अपना जीवन-निर्वाह अच्छी तरह कर सकते हैं।

तीसरी श्रेणी में वे किसान रक्खे गए हैं, जिनकी सब प्रकार की आमदनी इतनी कम है कि वे अपना जीवन-निर्वाह अच्छी तरह नहीं कर सकते ; या तो आधा पेट खाकर ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं, या अधिक क़र्ज़दार होते जाते हैं । इन दोनों गाँवों में उपर्युक्त तीनों श्रेणियों के किसानों की कुटुंब-संख्या नीचे-लिखे अनुसार है—

श्रेणी	पिंप्री सौदागर	चटगाँव बुदरुक
प्रथम	८	१०
द्वितीय	२८	१२
तृतीय	६७	१२५
योग	१०३	१४७

उपर्युक्त तालिका से यह पता लगता है कि पहले गाँव में १०३ में से ६७, अर्थात् ६५ फ़ी सैकड़ा और दूसरे गाँव में १४७ में से १२५, अर्थात् ८५ फ़ी सैकड़ा, कुटुंब ऐसे हैं, जिनकी सब प्रकार की आमदनी इतनी कम है कि वे साधारण वर्ष में भी अपना जीवन-निर्वाह अच्छी तरह नहीं कर सकते। यदि अकाल पड़ गया, तो उनकी दशा और भी ख़राब हो जाती है ।

विद्यार्थी का हिसाब—आगे हम स्वयं अपने विद्यार्थी-जीवन के ख़र्च का हिसाब देते हैं; जो कॉलेज में पढ़नेवाले साधारण स्थिति के विद्यार्थियों के ख़र्च का नमूना हो सकता है । यह युद्ध-काल से पूर्व का है । उस समय लेखक नागपुर के मॉरिस-कॉलेज में पढ़ता और मारवाड़ी-विद्यार्थी-गृह में रहता था—

मद	सन् १९१३-१४ बी०ए० का पहला क्लास	सन् १९१४-१५ बी०ए० का दूसरा क्लास
	रु० आ० पा०	रु० आ० पा०
१-भोजन (घी-सहित)	९६—५—६	९२—६—०
२—दूध, फल आदि	१६—२—६	१३—७—०
३—कपड़े	१७—१३—०	४—७—०
४—धोबी और नाई	२—८—०	३—६—०
५—मकान का किराया	३—५—०	०—०—०
६—कॉलेज-फ़ीस	६६—१२—०	९६—१२—०
७-पुस्तकें	१८—६—०	१५—१५—०
८-काग़ज़	८—३—०	९—१२—०
९—रेल आदि का किराया	४४—०—९	६९—०—०
१०—डाक-व्यय	९—१—६	७—१५—०
११—फ़ोटो	३—८—०	०—०—०
१२—नौकर	६—०—०	२—८—०
१३—दान और चंदा	४—०—०	४—४—०
१४—विविध	१३—१४—९	२—४—०
योग	३१०—०—०	३२२—०—०

इस संबंध में ये बातें ध्यान में रखने योग्य हैं—

(क) कपड़ों में बिस्तरे आदि ऐसे वस्त्रों का ख़र्च शामिल नहीं है, जो घर से ले लिए गए थे।

(ख) मारवाड़ी-विद्यार्थी-गृह को मकान का किराया मारवाड़ी-शिक्षा-मंडल से मिलता था। लेकिन कुछ समय तक मंडल की

स्वीकृति से अधिक देना पड़ा। हिसाब से लेखक को जितना अधिक देना पड़ा, वही ऊपर दिया गया है।

(ग) पुस्तकों के लिये ६०) रु० की सहायता ली गई थी। कोर्स पूरा करने पर ये पुस्तकें लौटा दी गईं।

(घ) लेखक का मकान मेरठ में था और पढ़ता था नागपुर में, इसलिये रेल आदि का किराए का ख़र्च विशेष हुआ।

(च) नौकरों में रसोइया, कहार, मेहतर आदि का ख़र्च मारवाड़ी-शिक्षा-मंडल से दिया गया था। उन्हें त्योहार आदि के अवसर पर दिया हुआ सिर्फ़ इनाम ही ख़र्च में शामिल है।

भिन्न-भिन्न श्रेणी के विद्यार्थी अपने ख़र्च का स्वयं हिसाब लगाकर देखें, तो बहुत अच्छा हो।

श्रमजीवियों का ख़र्च—श्रमजीवियों के पारिवारिक आय-व्यय के विषय में भी स्वतंत्र और गहरी छान-बीन की आवश्यकता है। २१ एप्रिल, १६२३ के 'आज' के आधार पर हम नीचे उनके विषय में कुछ ज्ञातव्य बातें लिखते हैं।

कुछ दिन हुए, बंबई-सरकार के श्रमजीवी-विभाग ने भारतीय श्रमजीवियों के २४७३ परिवारों और ६०३ अकेले पुरुषों के ख़र्च की जाँच की थी। उसका हाल 'लेबर गज़ट' में प्रकाशित हुआ है। उससे मालूम होता है कि जिन श्रमजीवियों के ख़र्च की जाँच की गई है, वे मिलों, म्युनिसिपलिटियों, रेलों, इंजीनियरिंग के कारख़ानों तथा जहाज़ों में काम करनेवाले हैं। श्रमजीवियों के परिवार में साधारणतः एक पुरुष, एक स्त्री और दो बच्चे होते हैं। और, छः व्यक्ति, बंबई के बाहर, उन्हीं पर आश्रित रहते हैं। ऐसे परिवारों के ख़र्च की जाँच करके यह हिसाब लगाया गया है कि एक परिवार की औसत मासिक आमदनी ५२।)॥ है। जिन परिवारों की जाँच की गई है, उनमें ७५ फ़ी सदी की आय ४०) रु० से लेकर ७०) रु० तक

है। प्रत्येक १०० परिवारों में १५४ व्यक्ति मज़दूरी करनेवाले हैं; जिनमें १०४ पुरुष, ४२ स्त्री और ८ बालक हैं।

ख़र्च का यह हाल है कि एक परिवार में ख़र्च का ५६.८ सैकड़ा तो खाद्य पदार्थ में, ७.४ रोशनी, कोयले तथा लकड़ी में, ९.६ कपड़ों में, ७.७ मकान-भाड़े में और १८.५ अन्य मदों में ख़र्च होता है। साधारण क़ैदियों के लिये जितनी ख़ुराक निर्धारित है, उससे भी कम इन मज़दूरों के हिस्से में पड़ती है। साधारणतः इन मज़दूरों को एक कमरे के लिये ३॥) से ५॥) तक और दोहरे कमरे के लिये ७) से १०) तक मासिक किराया देना पड़ता है। सौ में से ९७ मज़दूर-परिवार तो सिर्फ़ एक-एक कमरे में ही रहते हैं। इसी से उनके स्वास्थ्य का अनुमान लगाया जा सकता है।

बेचारे मज़दूरों पर क़र्ज़ अलग लदा हुआ है। क़रीब ४७ प्रति-शत परिवार महाजनों और बनियों के देनदार हैं। वे ढाई महीने की आमदनी के क़र्ज़दार प्रायः सदा ही रहते हैं। सूद भी उन बेचारों से कसकर लिया जाता है। रुपए पर एक आना महीना, अर्थात् ७५ सैकड़ा सालाना, तो बँधा ही हुआ है; जो अधिक देना पड़े, वह अलग है। प्रति मास ८=) तो क़र्ज़ के सूद में ही निकल जाते हैं। अतएव दस व्यक्तियों के परिवार की आमदनी, जिसमें बाहर के छः आश्रित भी सम्मिलित हैं, ४४=)॥ प्रति मास ही रह जाती है। इस प्रकार उसकी आदमी-पीछे साढ़े चार रुपए की भी मासिक आमदनी नहीं होती। सो क़र्ज़ उतारना तो दूर रहा, इतनी कम आय में उसका निर्वाह कैसे होता होगा, यही आश्चर्य की बात है!

ये लोग साधारणतः विवाह, मृत्यु और त्योहारों के समय अधिक क़र्ज़ ले लेते हैं। प्रत्येक शादी में लगभग २१४), मृत्यु में ३५) और तीज-त्योहारों में १८) का औसत ख़र्च कूता गया है। इधर सन् १९१४ ई० से इनका नशा-ख़ोरी का ख़र्च ३२ प्रति-शत बढ़ गया

है। रहन-सहन की इस हीन दशा में शिक्षा की अवस्था कैसे अच्छी हो सकती है ? यही कारण है कि उनमें ७६ फ़ी सैकड़े अपढ़ हैं। यह तो बंबई के श्रमजीवियों का हाल हुआ, जहाँ का श्रमजीवी-समुदाय, अनेक उद्योग-धंधे होने के कारण, भारत के अन्य श्रमजीवियों से अधिक धनी समझा जाता है। दूसरे छोटे शहरों में तनख़्वाहें कम हैं। हिसाब लगाने पर मालूम होता है कि बंबई से बाहर श्रमजीवियों के परिवारों की आमदनी, प्रत्येक व्यक्ति के हिसाब से, केवल २॥) ही होती है। वे भी महाजनों के ऋणी रहते हैं। अतएव स्पष्ट है कि भारतीय श्रमजीवियों का ख़र्च आमदनी से बहुत अधिक होता है। फिर नमक आदि के टैक्सों का बोझ भी उन पर बढ़ता जा रहा है। इससे उनकी कठिनाइयाँ और बढ़ जावेंगी। क्या सरकारी अधिकारी इस प्रश्न पर शांति-पूर्वक विचार करेंगे ?

व्यय-संबंधी कुछ अनुभव—योरप और अमेरिका के बहुत-से, भिन्न-भिन्न स्थिति के, गृहस्थों के व्यय-संबंधी अंक संग्रह किए और उनका विचार-पूर्वक अध्ययन किया गया है, तो निम्न-लिखित सिद्धांत निश्चित हुए हैं—

(क) जिस अनुपात से एक कुटुंब की आय बढ़ती है, पुस्तकों और भोजन का व्यय उसी अनुपात में नहीं बढ़ता।

(ख) वस्त्र और मकान-भाड़े का ख़र्च उसी अनुपात में बढ़ता है।

(ग) शिक्षा, स्वास्थ्य और मनोरंजन की सामग्री के व्यय का अनुपात आमदनी के अनुपात से अधिक बढ़ जाता है।

डॉ० एंजिल ने जर्मनी में हज़ारों परिवारों के आय-व्यय का अनुभव करके निम्न-लिखित सिद्धांत निश्चय किए हैं—

(१) आय जितनी बढ़ती है, उतना ही उसमें से निर्वाह के ख़र्च का अनुपात कम हो जाता है।

(२) वस्त्र पर ख़र्च का अनुपात स्थिर रहता है।

(३) यही हाल मकान के किराए, रोशनी आदि का होता है।

(४) आय जितनी बढ़ती है, उतना ही परिवार का सुख के साधनों में ख़र्च बढ़ जाता है।

यदि किसी परिवार की मासिक आय ७५) हो, तो, डॉक्टर एंजिल के सिद्धांतों के अनुसार, उसका व्यय इस प्रकार होगा—

भोजन	६२%	अर्थात्	४६॥)
कपड़े	१६%	,,	१२)
मकान का किराया	१२%	,,	९)
ईंधन और नाई-धोबी	५%	,,	३॥।)
सुख के साधन तथा दान आदि	५%	,,	३॥।)

पाठकों को स्वयं भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के परिवारों में इस बात की जाँच करनी चाहिए कि भारतवर्ष में कहाँ तक डॉ० एंजिल के उपर्युक्त सिद्धांतों के अनुसार ख़र्च होता है।

जाँच के लिये नक़्शे का नमूना—पारिवारिक आय-व्यय की जाँच करने के लिये हम एक नक़्शे का नमूना, चाणक्य-सोसाइटी की नवीं वार्षिक-रिपोर्ट (सन् १९१८-१९) के आधार पर, नीचे देते हैं—

पारिवारिक आय-व्यय

नाम ... ...

जाति ... ...

पेशा ... ...

गाँव ... ...

ज़िला ... ...

समय ... ...

लेखा-परीक्षक ... ...

(क) परिवार
- १—आदमियों की संख्या
  - (अ) काम करनेवाले ...
  - (आ) काम न करनेवाले ...

(ख) जायदाद
- २—ज़मीन (बीघों में) ... ...
- ३—मूल्य ... ...
- ४—मकान का मूल्य ... ...
- ५—पशुओं का मूल्य ... ...
- ६—सब जायदाद का मूल्य ... ...

(ग) ऋण
- ७—कुल रक़म ... ...

(घ) भोजन*
- ८—दूध का उपभोग ... ...
- ९—मांस या मछली का उपभोग ...
- १०—घी का उपभोग ... ...
- ११—सब्ज़ी का उपभोग ... ...
- १२—तेल का उपभोग ... ...
- १३—शक्कर का उपभोग ... ...

(च) वार्षिक आय	जिंस में मिली	नक़द मिली
१४—ज़मीन और बग़ीचे से कुल आय		
१५—पशुओं से कुल आय		
१६—वेतन और दस्तूरी		
१७—अन्य आय		
१८—आय का योग		
१९—इस वर्ष ऋण लिया		
२०—समस्त आय का योग		

* इस स्थान पर यह भी लिखना आवश्यक है कि उपभोग प्रति दिन होता है, या कभी-कभी, अथवा कभी नहीं।

(छ) वार्षिक व्यय	नक़द दिया	जिस में दिया
२१—अन्न		
२२—सब्ज़ी		
२३—नमक		
२४—मसाले		
२५—दूध		
२६—खाँड़ या गुड़		
२७—घी (खाने के लिये)		
२८—तेल		
२९—मांस-मछली		
३०—पान-तंबाकू आदि		
३१—मादक द्रव्य		
३२—तेल (रोशनी का)		
३३—ईंधन		
३४—बर्तन		
३५—दान		
३६—दवाई		
३७—अतिथि-सत्कार		
३८—विवाह-श्राद्धादि		
३९—पूजा आदि		
४०—तीर्थ-यात्रा और सफ़र		
४१—शिक्षा		
४२—ऋण पर सूद		
४३—मकान का किराया		
४४—मकान की मरम्मत		
४५—कपड़ा		

४६—नाई		
४७—धोबी		
४८—पुजारी		
४९—घरू नौकर		
५०—लगान और मालगुज़ारी		
५१—बीज, औज़ार और बैल की ख़रीद		
५२—लुहार		
५३—बढ़ई		
५४—खेती में काम करनेवाले		
५५—खेती-संबंधी अन्य कार्य		
५६—चौधरी-टैक्स		
५७—पशुओं के लिये रसद		
५८—विविध (भेंट आदि-सहित)		
५९—योग		
६०—इस वर्ष ऋण चुकाया		
६१—समस्त ख़र्च का योग		

(ज) बचत या कमी। ६२—बचत या कमी की रक़म

नक़्शे का कुछ स्पष्टीकरण—ऐसा नक़्शा भरने के लिये कुछ बातों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। आय-व्यय-पत्र के आरंभ में संक्षिप्त प्रस्तावना देनी चाहिए ; जिसमें यह भी बतलाना चाहिए कि उस पत्र की सामग्री किस प्रकार एकत्र की गई है, और जिस श्रेणी के परिवार का वह आय-व्यय है, उसका नमूना होने का काम वह पत्र कहाँ तक दे सकता है। इस संबंध में निम्न-लिखित बातें स्मरण रखना आवश्यक है—

(क) परिवार—परिवार के हरएक सदस्य का नाम, आयु,

रिश्तेदारी, विवाह, स्वास्थ्य और पेशा लिखना चाहिए। कमानेवाले सदस्यों के बारे में लिखना चाहिए कि उन्होंने कितने हफ़्ते, किस दर पर, काम किया। अंत में उसी गाँव के अन्य परिवारों से उस परिवार की तुलना होनी चाहिए। इनके सिवा जो अन्य उल्लेख-योग्य बातें हों, उन्हें भी लिखना चाहिए।

(ख) जायदाद—ज़मीन किस प्रकार ली हुई है (मौरूसी, ग़ैर-मौरूसी, शिक्मी या दर-शिक्मी)? मकान का ब्यौरा और स्थिति; कमरों की संख्या और आकार। पशु, फलवाले पेड़, औज़ार, सामान, ज़ेवर, कपड़े, नक़द रुपया, अनाज का भंडार।

(ग) ऋण—कब और कैसे हुआ? उसके चुकाए जाने की संभावना।

(घ) भोजन—किस क़िस्म के अन्न का उपभोग हुआ (रबी या ख़रीफ़)? कितनी बार भोजन किया जाता है, और हरएक व्यक्ति लगभग कितना भोजन करता है? नक़शे के ८ से १३ तक के मदों की व्याख्या।

(च) आय—बजट के हरएक मद की व्याख्या (यह बताते हुए कि किस हिसाब से ये अंक आए)।

(छ) व्यय—आय की भाँति व्यय की मदों की व्याख्या (यह बताते हुए कि कोई व्यय असाधारण तो नहीं है)। परिवार के प्रत्येक व्यक्ति और नौकरों के कपड़ों की विशेष बातें।

(ज) बचत या कमी—अगर साल में कुछ बचत हुई हो, तो उसका कैसे उपयोग किया गया? और, अगर साल में कुछ कमी हुई हो, तो किस तरह उसकी पूर्ति की गई?

पाँचवाँ परिच्छेद

उपभोग की विवेचना

उपभोग में विचार की आवश्यकता—धन की उत्पत्ति बहुधा बहुत कठिन समझी जाती है, और उसे बढ़ाने के नए-नए ढंग निकालने के लिये बड़े-बड़े दिमाग़ काम करते हैं। परंतु उपभोग की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। जैसा कि श्री० एफ़्० ए० वाकर ने अपने अर्थ-शास्त्र में लिखा है, लोग बिना पढ़े-लिखे ही अपने को इस विषय का पूर्ण ज्ञाता समझते हैं। परंतु अर्थ-शास्त्र के सिद्धांतों पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि वास्तव में प्रति सैकड़ा ९९ मनुष्यों के सिर अपव्ययी होने का दोष मढ़ा जा सकता है। उपभोग का विषय भी उत्पत्ति के समान ही कठिन एवं विचारणीय है। अपव्यय से केवल यही हानि नहीं होती कि व्यय किया गया द्रव्य मिट्टी हो जाता है, बरन् यह भी होती है कि वह भावी उत्पत्ति का बाधक बन जाता है। उदाहरणार्थ, यदि हम हट्टे-कट्टे भिखारियों को दान न दें, तो यह तो स्पष्ट ही है कि उतना धन व्यर्थ नष्ट न हो, साथ ही वे लोग उदर-पालनार्थ कोई काम भी करें; जिससे देश में उतनी उत्पादक शक्ति और बढ़ जाय।

यह ठीक है कि सब धन उपभोग किए जाने के लिये ही है। परंतु उसका, उचित समय में और उचित रीति से, उपभोग किया जाना चाहिए। तभी वह यथेष्ट लाभ पहुँचा सकता है। बहुधा अर्थ-शास्त्री भी अन्य विषयों को तो बहुत महत्त्व देते हैं, परंतु उपभोग के संबंध में विशेष विचार नहीं प्रकट करते। हर्ष की बात है, पं० श्यामविहारी मिश्र एम्० ए० और पं० शुकदेवविहारी मिश्र बी० ए० ने "व्यय"-नामक एक पुस्तक लिखी है; जिससे हमने इस परिच्छेद में, आवश्यकतानुसार, सहायता ली है।

सदुपभोग—देश-हित की दृष्टि से उपभोग दो प्रकार का होता है सदुपभोग और दुरुपभोग। पहले सदुपभोग को लीजिए। पदार्थों के ऐसे उपभोग को, जिससे देश की उत्पादक शक्ति बढ़ती है, सदुपभोग कहते हैं। जैसे, यदि हम स्वदेश का बना कपड़ा मोल लें, तो उससे हमारे धन का उपभोग तो होगा ही, साथ ही उससे हमारे देश के कारीगरों को लाभ पहुँचेगा; अर्थात् ऐसे लोगों का हित होगा, जो आलसी नहीं हैं, वरन् अपनी जीविका देशी उद्योग तथा व्यापार की उन्नति के कार्य से प्राप्त करते हैं।

इस देश के लोगों की प्रधान जीविका कृषि है, अतः कृषि की उन्नति करनेवाले उपायों में रुपया ख़र्च करना सदुपभोग है। हमें चाहिए कि अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार कृषकों के लड़कों की, योग्य शिक्षा प्राप्त करने में, सहायता करें, रात्रि-पाठशालाएँ स्थापित करें, सहयोग-समितियाँ संगठित करें, और विविध उपयोगी विषयों के ज्ञान का प्रचार करें।

उद्योग और कृषि की भाँति यहाँ साहित्य-वृद्धि की भी बड़ी आवश्यकता है। धनी-मानी सज्जनों को चाहिए कि लेखकों, संपादकों और कवियों के प्रति कुछ उदारता के भाव दरसावें, साथ ही अनिष्ट-कारी शृंगार-रस-पूर्ण रचनाओं में भी पैसा ख़र्च न होने दें। इसी तरह अनाथालय, स्कूल, वाचनालय, व्यायाम-शाला आदि में द्रव्य लगाना सदुपभोग है। इनकी ओर देश-हितैषियों को यथेष्ट ध्यान देना चाहिए। सदुपभोग-संबंधी अन्य विविध बातों का सविस्तर उल्लेख 'उत्पत्ति' के खंड में हो चुका है। अतएव अब यहाँ दुरुपभोग का वर्णन किया जाता है।

दुरुपभोग—दुरुपभोग पदार्थों के ऐसे उपभोग को कहते हैं, जिससे देश की उत्पादक शक्ति को हानि पहुँचे। उदाहरणार्थ, हमारे यहाँ बहुत-से आदमी तंबाकू, भाँग, गाँजा, शराब आदि मादक

वस्तुओं को मोल लेते हैं, इससे केवल कुछ ऐसे व्यक्तियों को लाभ होता है, जो हानिकारक वस्तुएँ उत्पन्न करते हैं। इन चीज़ों के उपभोग से हमारे अनेक आदमियों की कार्य-क्षमता को अंत को धक्का पहुँचता है। इस प्रकार देश की द्रव्योत्पादक शक्ति का क्रमशः ह्रास होता जाता है । यदि इन पदार्थों की माँग न होती, तो जो परिश्रम मादक वस्तुएँ उत्पन्न करने में किया जाता है, वह अवश्य ही किसी लाभदायक काम में आता । अतः मादक वस्तुओं का उपभोग रोकने की बड़ी आवश्यकता है।

अन्यत्र हमने विविध प्रकार के मादक वस्तुओं के अतिरिक्त तंबाकू में ख़र्च होनेवाले धन का उल्लेख किया है। यदि इस पदार्थ का सेवन शरीर के लिये लाभकारी होता, तो हमें इसके लिये द्रव्य ख़र्च किए जाने में कुछ आपत्ति न होती । परंतु दुःख तो यही है कि इसके उपभोग से कोई लाभ न होकर उलटी हानि ही होती है। यों तो, जो आदमी इसका सेवन करते हैं, वे इसके अनेक गुण बताकर कोई-न-कोई बहाना ऐसा कर ही सकते हैं, जिससे उनका इसमें किया जानेवाला ख़र्च सदुपभोग ठहरे । परंतु वास्तव में बड़े-बड़े वैद्यों और डॉक्टरों का यह मत है कि तंबाकू खाने, पीने या सूँघने से इन विकारों के होने का भय रहता है—मंद दृष्टि, मूर्च्छा, मुँह में बदबू, कलेजे में जलन, छाती में कफ बढ़ना, दाँतों की कमज़ोरी, पित्त की वृद्धि, शरीर की निर्बलता आदि । संभव है, कुछ आदमी किन्हीं विशेष अवस्थाओं में, कोई ख़ास बीमारी दूर करने के लिये औषधि-रूप में, तंबाकू का सेवन करते हों, परंतु इन-की संख्या मुश्किल से एक फ़ी-सदी होगी । अधिकांश आदमी देखा-देखी, शौक़ के लिये, इसका ख़ुद इस्तेमाल और यार-दोस्तों में प्रचार करते हैं । इस प्रकार वे देश के धन का दुरुपभोग करने के दोषी बनते हैं ।

भारत में जो विदेशी खाँड़ बरती जाती है, वह अधिकांश मॉरीशस-टापू से आती है। वहाँ हमारे भाई नवीन युग की गुलामी का निकृष्ट जीवन व्यतीत कर रहे हैं, उन्हें मनुष्योचित अधिकार प्राप्त नहीं, उन पर तरह-तरह के अन्याय होते हैं, और बात-बात में वे बेचारे दंड के भागी बनते हैं। जिस खाँड़ के बनाने में हमारे भाइयों को इस प्रकार पतित होना पड़ता है, उसका आँख मीच-कर सेवन करते रहना, हम लोगों के लिये, क्या निंदनीय नहीं? विदेशी खाँड़ के इस लज्जास्पद दुरुपभोग से हमें अपने आपको यथासंभव शीघ्र बचाने का प्रयत्न करना चाहिए।

बड़े खेद की बात है कि विदेशी वस्तुओं का भारत में इतना प्रचार हो गया है कि ऐसा कोई बिरला ही घर मिलेगा, जहाँ हमारी आर्थिक दासता का चिह्न-स्वरूप इन चीज़ों का उपभोग न होता हो। और तो और, स्त्रियों का सौभाग्य-चिह्न चूड़ियाँ और द्विजों के द्विजत्व का द्योतक यज्ञोपवीत भी अब विदेशी होने लग गया है। विदेशी सूत का यहाँ बनाया हुआ यज्ञोपवीत भी स्वदेशी नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार, विलायती मलमल आदि पर राम-नाम की छाप देकर उसे 'पवित्र' बनाने की क्रिया सर्वथा निंदनीय है। विदेशी वस्त्रों में बहुधा चर्बी की माड़ी दी जाती है, यह जानकर भी उसका मोह न छोड़ना बहुत शोचनीय है!

विदेशी ढंग का पहनावा—विदेशी वस्तुओं के व्यवहार की भाँति विदेशी ढंग का पहनावा भी देश के लिये बहुत अहितकर है। स्वदेशी पहनावे में थोड़े-से वस्त्रों की आवश्यकता पड़ती है। एक बार में एक कुर्ता, एक धोती, एक सादी टोपी या पगड़ी, और एक जूतों की जोड़ी से काम चल जाता है, परंतु विदेशी पहनावे में पूरा सूट चाहिए; क़मीज़, वास्कट, कोट, फ़ेल्ट-कैप, बनियाइन, मोज़े, पतलून तथा बूट आदि सभी चीज़ें चाहिए। इनके अतिरिक्त

कालर, नेकटाई आदि न हुईं, तो फ़ैशन में कमी रह जायगी ! चश्मा और जेबघड़ी तो होनी ही चाहिए। हजामत भी यदि फ़ैशन के अनुसार प्रति दिन, अधिक-से-अधिक तीसरे दिन, न हुई, तो बाबू साहब पूरे जेंटिलमैन कैसे बनेंगे ! सिर पर, सामने की ओर, बाल रखने, उनका समुचित शृंगार करने और सुगंधित तेल लगाने में जो समय और पैसा ख़र्च होता है, वह भी विदेशी पहनावे के साथ एक अनिवार्य-सी बात है। यह सब हिसाब लगाकर पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं कि यह फ़ैशन निर्धन भारत को अधिकाधिक दरिद्र और दुर्भिक्ष-पीड़ित करने में कितना सहायक हो रहा है ! अब राष्ट्रीय आंदोलन से सादगी का प्रचार हो रहा है, परंतु चिर काल के विदेशी वस्तुओं के उपभोग से हमारे शरीर पूर्ण रूप से सुकुमार हो गए हैं, बहुतों को खद्दर के कपड़े काँटों की तरह चुभते हैं। स्वदेश-प्रेमी बंधुओं को अपनी दशा पर गंभीर विचार करके उसका सुधार करना चाहिए।

दान-धर्म—हम हट्टे-कट्टे भिखारियों या बनावटी साधुओं को जो दान-पुण्य करते हैं, उससे ऐसे मनुष्यों को लाभ पहुँचता है, जो देशी व्यापार तथा उद्योग-धंधों की कुछ सहायता नहीं करते, और जिनका जीवन देश के लिये किसी प्रकार लाभकारी नहीं कहा जा सकता। यदि हम उन्हें मुफ़्त में भोजन-वस्त्र न दें, तो वे उदर-पालनार्थ कुछ उत्पादक कार्य अवश्य करें। हमारे दान आदि से वे आलसी और निरुद्यमी होते जाते हैं।

भारतवर्ष पहले दान-धर्म के लिये प्रसिद्ध था; लेकिन अब वही, अविवेक के साथ दान दिए जाने के कारण, भिखारियों की अधिकता के लिये बदनाम हो रहा है। अनाथ विधवाओं या अपाहिजों को यथा-शक्ति सहायता पहुँचाना मनुष्य-मात्र का कर्तव्य है। जो साधु-संन्यासी घूम-फिरकर देश में धर्मोपदेश का प्रचार करें, वे भी गृहस्थों की

उदारता के अधिकारी हैं। परंतु आलसी, निखट्टू आदमी, केवल गेरुए कपड़े पहन लेने से, दान-धर्म तथा प्रतिष्ठा के अधिकारी कदापि नहीं समझे जाने चाहिए। व्यवस्थापक सभाओं में, इस विषय में, क़ानून बनाए जाने का प्रश्न उठा था। परंतु बहुत-से आदमियों ने ऐसे कामों में सरकारी हस्तक्षेप पसंद नहीं किया। अच्छा हो, यदि भिन्न-भिन्न समाज इस बात के लिये लोक-मत तैयार करें, और ये लाखों भिखारी, अपनी आवारा ज़िंदगी छोड़कर, देश की सुख-समृद्धि के लिये जी-जान से परिश्रम करने लगें। संयुक्त कुटुंब-प्रणाली से बुड्ढों, बालकों तथा विधवाओं को सहायता मिलती है, यह ठीक ही है, तथापि प्रत्येक व्यक्ति में यथाशक्ति उद्योग तथा परिश्रम करने की भावना रहनी चाहिए।

देश में अनाथालय, अस्पताल तथा अन्य परोपकारी संस्थाएँ स्थापित हो रही हैं। उनकी उन्नति और संख्या-वृद्धि की बड़ी आवश्यकता है।

देवालय और मंदिर *—इस प्रसंग में देवालयों और मंदिरों के संबंध में भी कुछ कहना है। हम यहाँ इस विषय पर विचार नहीं करना चाहते कि ईश्वर साकार है, अथवा निराकार। हम समझते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बुद्धि, मत और योग्यता के अनुसार ईश्वर की पूजा करनी चाहिए। इसमें वाद-विवाद की आवश्यकता नहीं। परंतु देश-हित की दृष्टि से यह आवश्यक है कि व्यर्थ के आडंबरों के लिये अपव्यय न हो। मूर्ति-पूजकों के लिये थोड़े-से व्यय से, एक साधारण स्थान (मंदिर आदि) में, प्रतिमा की प्रतिष्ठा हो सकती है; जहाँ प्रति दिन अनेक मनुष्यों का शुद्ध शांत हृदय से सहज सम्मेलन तथा ईश्वर-ध्यान हो सकता है। परंतु हम देखते हैं कि अनेक देवालयों में आवश्यकता से कई गुना अधिक

---

* लेखक की 'भारतीय जागृति' के आधार पर।

रुपया लगाए जाने से देश की उस संपत्ति में कमी कर दी गई है, जो दीन-दुखी अशिक्षित जनता के हितार्थ लगाई जा सकती थी। बहुत-से नगर—विशेषतया काशी, मथुरा, वृंदावन, हरिद्वार आदि तीर्थ-स्थान—ऐसे हैं, जहाँ एक-एक दो-दो मंदिरों से काम चल सकता था; पर धनी लोगों ने अपने-अपने धर्म(?)-भाव की विज्ञप्ति करने के लिये अलग-अलग मंदिरों का निर्माण कर दिया। भारतवर्ष की वर्तमान आर्थिक हीनावस्था में इस प्रकार के समस्त अपव्यय से बचने की बड़ी आवश्यकता है।

फिर यह आवश्यक नहीं है कि शिवालयों या देव-मंदिरों के साथ कुपढ़, दुराचारी, मुफ़्तख़ोरे लोगों को आश्रय दिया जाय, और देश की गाढ़ी कमाई का जो पैसा प्रतिमा की आरती या पुजापे (चढ़ावे) में आवे, उससे अनुत्पादक मनुष्यों की संख्या बढ़ाई जाय। धार्मिक कृत्यों में सुधार की अपील सुनकर भक्त-जनों को बिगड़ना उचित नहीं। शांति-पूर्वक यह विचार करने की ज़रूरत है कि धर्म समझकर किए जानेवाले कामों में वास्तविक धर्म-भाव कितना है। क्या ईश्वर इस बात से प्रसन्न होगा कि दुखी मनुष्य-संतति के कष्ट-निवारण में लगाई जाने-योग्य शक्ति का इस प्रकार दुरुपयोग किया जाय?

रीति-रस्म और उपभोग—यद्यपि भारतीय जनता साधारणतः बहुत सादगी-पसंद और निर्धन है, तथापि कुछ बातों में वह अपव्यय भी करती है। उदाहरणार्थ, शादी और ग़मी का ख़र्च और आभूषण। असल बात यह है कि यहाँ के लोगों में वे सब गुण-दोष मौजूद हैं, जो कृषि-प्रधान और व्यवसाय-अवनत देश की जनता में होते हैं। यहाँ के अधिकांश आदमी पुरातन रूढ़ियों के प्रेमी और तर्क-हीन संरक्षण-शील विचारवाले हैं। बहुत-सी बातों में वे अपनी गाढ़ी कमाई का धन केवल इसलिये ख़र्च कर

डालते हैं कि उसका रिवाज़ है। ब्याह-शादियों में वेश्या-नृत्य कराकर नहीं मालूम सुकुमार-हृदय बालक-बालिकाओं को आचार-भ्रष्ट होने की शिक्षा क्यों दी जाती है? क्या मनोरंजन के अन्य साधन नहीं रहे? इसी प्रकार आतशबाज़ी आदि में धन क्यों स्वाहा किया जाता है? क्या भारतवासियों के पास धन इतना अधिक हो गया है कि वह खाने-ख़र्चने से निपटने में ही नहीं आता, और रखने को ठौर ही नहीं मिलता? खेद की बात है कि विदेशी लोग तो अपनी पूँजी यहाँ भेजकर सूद की आमदनी कमावें, और हम धन को इस प्रकार मिट्टी करें!

आजकल समाज-सुधार का आंदोलन प्रायः प्रत्येक जाति में हो रहा है, परंतु कुछ पुराने विचारों के आदमी यथाशक्ति सुधारकों की बातें चलने नहीं देते। तथापि शिक्षा और सभ्यता अपना प्रभाव डाल रही है, और साथ ही महँगी भी उचित सुधार करा रही है।

बचत का उपयोग—भारतीय जनता की अल्प आय तथा निर्धनता और किसानों की ऋण-ग्रस्तता का उल्लेख पहले किया जा चुका है। अधिकांश के पास अपनी साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति के पश्चात् कुछ बचता ही नहीं। हाँ, कुछ ऐसे हैं, जो यदि प्रयत्न करें, तो कुछ बचा सकते हैं; परंतु अपने ऐशो-आराम तथा शौक़ीनी में अपव्यय कर डालते हैं। ऐसे आदमी बहुत थोड़े हैं, जो कुछ रुपया बचाते हैं।

भारतीय जनता की बचत का स्थूल अनुमान डाकख़ाने के सेविंग बैंकों, सहकारी बैंकों, मिश्रित पूँजी के कामों तथा सरकारी ऋण आदि में लगे हुए धन से हो सकता है। ज्ञात होता है कि बचत की ओर जनता की प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ रही है।

भारतवर्ष के संचित सोने-चाँदी का वर्णन अन्यत्र किया गया है। धन को गाड़कर रखना भी एक प्रकार का अपव्यय अथवा दुरुपभोग है। अराजकता अथवा अज्ञान की दशा में ऐसा करना क्षम्य हो

सकता है, परंतु शांति और ज्ञान की स्थिति में तो ऐसा कदापि न किया जाना चाहिए। यह देश के लिये बहुत हानिकारक है।

उत्तराधिकारी और दत्तक पुत्र— यहाँ उत्तराधिकारियों के संबंध में भी कुछ लिखा जाना आवश्यक है। भारतवासी इस बात की बड़ी फ़िक्र रखते हैं कि किसी प्रकार उनका नाम स्थिर रहे। इसलिये जब कोई धनी व्यक्ति निस्संतान मरने की आशंका करता है, तो स्वयं, या अपने इष्ट-मित्रों के कहने में आकर, अपने किसी स्वजातीय बालक को गोद ले लेता है; जिससे उसके बाद भी ख़ानदान का नाम चलता रहे। ऐसे लोग भूल जाते हैं कि राम, कृष्ण, बुद्ध, शंकर, दयानंद आदि महापुरुषों के नाम, चिर काल के पश्चात् भी, हमारी जिह्वा पर चढ़े हुए हैं। यह उनके पुत्र-पौत्रों के कारण नहीं, वरन् स्वयं उनके शुभ कृत्यों एवं दया, धर्म, त्याग, वीरता और अन्य ऐसे ही सद्गुणों के कारण।

हमारे अनुभव में तो बहुधा यही आया है कि अधिकांश दत्तक पुत्र सुयोग्य उत्तराधिकारी नहीं निकलते। उन्हें अपने नए परिवार से उतना प्रेम नहीं होता, जितना होना चाहिए, और न वह नया परिवार ही उन पर यथेष्ट विश्वास करता है। दो-चार वर्षों में ही प्रायः बड़ी हानिकारक मुक़दमे-बाज़ी शुरू हो जाती है; धन ख़ूब लुटता और कलह बढ़ता है।

इसलिये हमारी तो यही सम्मति है कि जिन आदमियों को निस्संतान मरने की आशंका हो, वे, अपने परिवार के निर्वाहार्थ व्यवस्था करके, अपनी शेष संपत्ति ऐसे राष्ट्रीय कार्यों में लगाने की वसीयत कर दें, जिनसे देश में शिक्षा और उद्योग-धंधों की उन्नति और वृद्धि हो, अनाथों की रक्षा हो, रोगियों का इलाज हो, इत्यादि। इस प्रकार ही उनकी कीर्ति अधिक स्थायी और मातृ-भूमि का कल्याण हो सकता है।

मुक़द्मेबाज़ी—अब मुक़द्मेबाज़ी के संबंध में और लिखकर उपभोग के विवेचन को समाप्त किया जाता है। भारतवर्ष में कृषकों तथा ज़मींदारों को प्रायः ज़मीन के और व्यापारी तथा व्यवसायियों को रुपए-संबंधी मुक़द्मे बहुत ख़राब करते हैं। केवल ब्रिटिश भारत में दीवानी मुक़द्मों की औसत संख्या प्रति वर्ष २० लाख होती है। इनमें रुपया बहुत नष्ट होता है। उपर्युक्त 'व्यय'-नामक पुस्तक में बनारस के एक लक्खी-चबूतरे का उदाहरण दिया गया है। उस चबूतरे के नामकरण का कारण यह है कि उसके लिये दो आदमियों ने मुक़द्मेबाज़ी करके अदालती काम में एक-एक लाख रुपए के लगभग ख़र्च कर डाला ! यह चबूतरा सिर्फ़ ५-६ गज़ लंबा और एक गज़ चौड़ा है, और किसी अच्छे मौक़े पर स्थित भी नहीं है। मुक़द्मेबाज़ी में नष्ट होनेवाले अपार धन को राष्ट्रीय पंचायतों द्वारा बचाया जा सकता है। वर्तमान असहयोग-आंदोलन में सरकारी अदालतों का बहिष्कार किया जा रहा है, परंतु अभी पंचायतों की उन्नति और वृद्धि की बड़ी आवश्यकता है।

चतुर्थ खंड
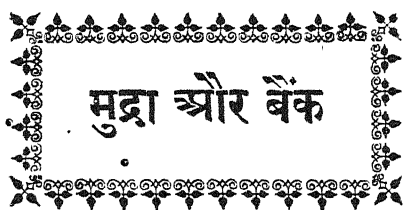
पहला परिच्छेद

मुद्रा ; रुपया-पैसा

इस खंड का विषय—धन की उत्पत्ति और उपभोग का वर्णन किया जा चुका है। अब धन के विनिमय और वितरण का वर्णन करना है। परंतु पहले मुद्रा और बैंकों के संबंध में कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है ; क्योंकि आधुनिक संसार में पदार्थों का क्रय-विक्रय तथा व्यापार आदि सब कार्य इन्हीं के द्वारा होते हैं।

विनिमय का माध्यम—केवल अपनी ही बनाई हुई वस्तुओं से हमारा सब काम नहीं चल सकता। जीवन-निर्वाह के लिये हमें बहुधा दूसरों की बनाई हुई वस्तुओं का भी उपभोग करना पड़ता है। इसके लिये हमें अपनी बनाई हुई वस्तु दूसरों को देकर, उसके बदले में, उनसे अपनी आवश्यकता की वस्तु लेनी पड़ती है। यही कारण है कि अदल-बदल (Barter) का कार्य मनुष्य की प्रारंभिक अवस्था से चला आ रहा है। यह अदल-बदल आधुनिक विनिमय (Exchange) का प्राथमिक स्वरूप था। पहले जिन वस्तुओं का आपस में बदला किया जाता था, उनके बीच में कोई विनिमय का माध्यम (Medium of Exchange) नहीं होता था। इससे बड़ी कठिनाई पड़ती थी। जो वस्तु हमारे पास अधिक होती थी, उसके लेनेवाले, सब समय और सब जगह, नहीं मिलते थे। फिर जिन मनुष्यों को हमारी चीज़ की ज़रूरत होती थी, वे सभी हमें हमारी आवश्यकता की वस्तु न दे सकते थे। अतएव हमें ऐसा आदमी ढूँढ़ना पड़ता था, जिसमें एक साथ

दो बातें होती थीं—वह हमारी बनाई हुई वस्तु ले सकता, और हमारी ज़रूरत की चीज़ भी, बदले में, दे सकता था।

इस कठिनाई को दूर करने के लिये भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न वस्तुएँ विनिमय का माध्यम बनाई गई। भारतवर्ष के दिहातों में, अब भी, अन्न के बदले शाक-भाजी, लकड़ी, उपले आदि वस्तुएँ मिलती हैं। एक आदमी अपनी चीज़ बेचकर बदले में अन्न लेता है, और फिर उस अन्न के बदले में अपनी आवश्यकता की दूसरी वस्तु। इस प्रकार अन्न विनिमय के माध्यम का काम देता है।

इसमें संदेह नहीं कि अन्न की सबको आवश्यकता होती है, परंतु माध्यम के लिये यही एक गुण काफ़ी नहीं है। छोटी-छोटी मात्रा के विनिमय का कार्य इससे अवश्य चल सकता है, परंतु बड़ी मात्रा के विनिमय में इससे बड़ी असुविधा होती है। मान लीजिए, यदि सौ मन रुई बेचना है, और उसके बदले में पाँच सौ मन गेहूँ मिलता है, तो इतने भारी वज़न को, एक जगह से दूसरी जगह, ले जाने में क्या कम कठिनाई पड़ेगी? फिर अन्न ऐसा पदार्थ है, जो बहुत समय तक अच्छी दशा में नहीं रहता; उसके ख़राब हो जाने अथवा चूहे या कीड़ों द्वारा खाए जाने की आशंका रहती है। अतः ज्यों-ज्यों मानव-समाज में सभ्यता बढ़ती गई, यह विचार पैदा होता गया कि विनिमय का कोई और अच्छा माध्यम निश्चित किया जाय।

माध्यम के गुण—माध्यम का कार्य वही चीज़ भली भाँति कर सकती है, जिसमें ये गुण हों—

(१) उपयोगिता

(२) चलन अर्थात् ले जाने का सुबीता

(३) अक्षय-शीलता, अर्थात् जल्दी ख़राब या नाश न होना

(४) विभाजकता या टुकड़े हो सकना। (पशु आदि के विभाग नहीं हो सकते।)

(५) मूल्य में स्थायित्व, अर्थात् शीघ्र परिवर्तन न होना
(६) पहचान (इसी में उसकी चिह्न या अक्षर धारण करने की शक्ति भी सम्मिलित है ।)

माध्यम के लिये धातुएँ—यथेष्ट अनुभव और प्रयोगों के पश्चात् लोगों को धातुओं से माध्यम का काम लेने की बात सूझी। यदि किसी को रुई के बदले में अन्न लेना हो, तो वह पहले रुई के बदले में धातु ले ले, और फिर उस धातु के बदले में अन्न। इस रीति में विनिमय दो बार करना पड़ता है ; किंतु, तो भी, यह रीति सरल है, और एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का विनिमय करने की अपेक्षा इतनी अच्छी है कि माध्यम के लिये धीरे-धीरे धातुओं का, और उनमें भी विशेषतः सोने-चाँदी का, चलन बढ़ गया। क्रमशः धातुओं के सिक्के बनने लगे। यद्यपि इनसे मनुष्य की कोई प्राकृतिक आवश्यकता पूरी नहीं होती, तथापि माध्यम के लिये आवश्यक उपर्युक्त सब गुण इनमें अधिक मात्रा में रहने के कारण ये बहुत उपयोगी समझी जाती हैं।

सिक्का या मुद्रा में दो गुण होते हैं। यह विनिमय-कार्य का माध्यम होने के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न वस्तुओं के मूल्य का मापक भी है। स्मरण रहे कि मुद्रा भी अन्य वस्तुओं के समान एक वस्तु है, और उसके अधिक या कम होने पर उसका मूल्य भी घट-बढ़ सकता है।

माध्यम का चलन या करेंसी (Currency)—भिन्न-भिन्न देशों में, समय-समय पर, तरह-तरह के सिक्के रह चुके हैं। जिस देश ने साधारणतः जितनी जल्दी उन्नति की और सभ्यता की तरफ़ क़दम रक्खा, उतनी ही जल्दी उसने सिक्के का उपयोग आरंभ किया। सिक्कों के चलन के संबंध में विविध प्रकार का अनुभव मानव-समाज को धीरे-धीरे और इस प्रकार हुआ—

(क) जब विनिमय का माध्यम धातु मानी जाने लगी, और यह निश्चित हुआ कि इतनी अमुक वस्तु के लिये अमुक धातु इतनी मात्रा में दी जाय, तो मनुष्य भिन्न-भिन्न वस्तुओं के बदले में यथेष्ट धातु तौलकर देने लगे, और इस प्रकार करेंसी का आरंभिक रूप स्थिर हुआ। यह है माध्यम का चलन तौल द्वारा।

(ख) धीरे-धीरे धातु के तुले-तुलाए टुकड़े गिनकर चलाए जाने लगे। यह है माध्यम का चलन गिनती द्वारा।

(ग) धातु की शुद्धता तथा तौल में शंका न हो, इसलिये इन टुकड़ों पर किसी प्रसिद्ध संस्था या सरकार का चिह्न दिया जाने लगा, और मुद्रा या सिक्के * का पूर्ण आविर्भाव हो गया। यह है माध्यम का चलन सिक्के द्वारा।

(घ) बहु-मूल्य और अल्प-मूल्य पदार्थों के लिये भिन्न-भिन्न धातुओं के कई सिक्कों का चलन आवश्यक हो गया, और उनकी पारस्परिक परिवर्तन की दर निश्चित कर दी गई। यह है माध्यम का चलन दो या अधिक धातुओं के सिक्कों द्वारा।

(च) बाद को एक या अधिक सिक्के अपरिमित संख्या तक और शेष परिमित संख्या तक क़ानूनन् ग्राह्य नियत किए गए। यह है माध्यम का सम्मिलित चलन सिक्कों द्वारा। भारत में पौंड और रुपए तो अपरिमित क़ानूनन् ग्राह्य हैं, परंतु अन्य सिक्के परिमित।

बुरे सिक्कों का चलन ; ग्रेशम का नियम—यह बात सुनने

---

* सबसे अच्छा सिक्का वह है, (१) जिसकी नक़ल न की जा सके, (२) जिससे यदि धातु निकाली जाय, तो फ़ौरन् पता लग जाय, और (३) जिससे धातु, रगड़ के कारण घिस जाने पर, कम न हो जाय, और (४) जो अपने समय की कला का एक ख़ास नमूना हो।

में चाहे आश्चर्य-प्रद ही हो, पर है बिलकुल ठीक कि जन-साधारण में प्रायः बुरे सिक्कों का ही चलन रहता है। धातुओं के व्यापारी और सर्राफ़ लोग अच्छे, भारी सिक्के छाँटकर अपने पास रख लेते हैं। अंतर्राष्ट्रीय लेन-देन में तो बुरा सिक्का चल ही नहीं सकता, इस-लिये विदेशों से व्यापार करनेवाले भी अच्छे-अच्छे सिक्के ही निकालकर रख लेते हैं। इस प्रकार अच्छे सिक्के चलन से निकल जाते हैं, और देश में बुरे सिक्कों का चलन रह जाता है।

यह नियम अर्थ-शास्त्री ग्रेशम ने मालूम किया था। इसका आशय यह है कि हलका (बुरा) सिक्का भारी (अच्छे) सिक्के को चलन से निकाल देता है, या यों कहिए कि जिस सिक्के की क़ीमत उसमें लगी हुई धातु की क़ीमत से अधिक है, वह उस सिक्के को चलन से हटा देता है, जिसकी क़ीमत उसमें लगी हुई धातु की क़ीमत के बराबर है। इसी प्रकार काग़ज़ का सिक्का धातु के सिक्के को चलन से निकाल देता है, और अंत में सरकार को बहुधा घिसे हुए सिक्के या नोट ही ख़ज़ाने में वापस लेने पड़ते हैं।

सिक्के ढालने का अधिकार और ख़र्च—सिक्के ढालने का अधिकार (१) जन-साधारण को, (२) सरकार को, अथवा (३) सरकार द्वारा नियुक्त की गई किसी बैंक आदि संस्था को हो सकता है।

सिक्कों के चलन के ख़र्च में निम्न-लिखित व्यय सम्मिलित हैं—

(क) जो पूँजी सिक्कों में लग जाती है, उस पर ब्याज

(ख) सिक्कों के घिसने का नुक़सान

(ग) टकसाल का ख़र्च

परंतु जिन सिक्कों का मूल्य केवल क़ानून से निश्चित होता है, और जिनमें लगी हुई धातु की क़ीमत उनकी क़ीमत से कम होती है, उन्हें चलाने में बहुत लाभ होता है। इस लाभ का

लालच यहाँ तक बढ़ जाता है कि उन सिक्कों (या नोटों) की संख्या कभी-कभी आवश्यकता से अधिक बढ़ा दी जाती है, जिससे देश को बहुत हानि पहुँचती है। आगे प्रसंगानुसार इस प्रश्न पर विचार किया जायगा।

भारतीय सिक्कों का इतिहास—सिक्कों के संबंध में साधारण सिद्धांतों की बातें बतलाकर अब हम भारतवर्ष के सिक्कों का वर्णन करते हैं। किंतु पहले उनका संक्षिप्त इतिहास बतलाना आवश्यक है। इस संबंध में हम 'प्रेम' में प्रकाशित अपने एक लेख का कुछ अंश नीचे देते हैं—

मुसलमानों के आगमन से पूर्व, तथा कुछ समय पीछे तक, भारतवर्ष में मुख्य रूप से सोने के सिक्कों का प्रचार रहा। चाँदी, ताँबे और लोहे के सिक्के भी बनते थे; परंतु उनका प्रचार कम था। बहुत कम क़ीमत की चीज़ों के लेन-देन में कौड़ियों का व्यवहार होता था। मुसलमानों ने इस देश में राज्य-स्थापन करते ही अरब-देश के 'दीनार' प्रभृति सिक्को को चलाना चाहा, परंतु इसमें उन्हें यथेष्ट सफलता नहीं मिली। तदुपरांत दिल्ली के सुलतान अल्तमश ने, सन् १२३३ ई० में, १७५ ग्रेन तौल का टंक-नामक चाँदी का सिक्का जारी किया। सन् १५४२ ई० में बादशाह शेरशाह ने 'टंक' के बदले लगभग १८० ग्रेन तौल का 'रुपया'-नामक सिक्का प्रचलित किया। उत्तरी भारत में चाँदी का सिक्का क्रमशः स्टैंडर्ड, अर्थात् प्रामाणिक, सिक्का * हो गया। सोने और चाँदी के सिक्कों के मूल्य का अनुपात प्रायः बदलता रहता था, यद्यपि मुग़ल सम्राट् दोनों प्रकार के सिक्के यथेष्ट मात्रा में ढालते थे। हिसाब बहुधा

---

* स्टैंडर्ड अथवा प्रामाणिक सिक्का उस सिक्के को कहते हैं, जिसकी बाजारू क़ीमत उसमें लगी हुई धातु की क़ीमत के लगभग हो।

रुपयों में होता था भेट या, परंतु नज़राने में अधिकतर सोने का ही व्यवहार किया जाता था।

काग़ज़ी रुपयों का उस समय प्रचार नहीं था। हाँ, प्रजा में हुंडियों का व्यवहार आवश्यकतानुसार किया जाता था। मुहम्मद तुग़लक ने चमड़े के नोटों के प्रचार का प्रयत्न किया था; परंतु वह उनके साथ धातु के सिक्कों का प्रचार नहीं करना चाहता था, इसलिये उसका असफल होना निश्चित ही था। मुसलमानों का प्रभाव दक्षिण-भारत में अपेक्षाकृत कम रहने से वहाँ सोने का चलन सन् १८१८ ई० तक बना रहा, और उसकी जगह ईस्ट-इंडिया-कंपनी ने चाँदी का सिक्का (रुपया) चला दिया।

कंपनी की व्यवस्था—सन् १७६६ ई० में कंपनी ने दो धातुओं के सिक्कों का चलन स्थापित करने की—अर्थात् सोने और चाँदी के सिक्कों के मूल्य में क़ानूनी अनुपात निश्चित करने की—कोशिश की। उसकी सोने की मोहरों की क़ीमत पहले १४ 'सिक्के रुपए' लगाई गई। परंतु सन् १७६९ ई० में नई मोहरें १६ 'सिक्के रुपए' की ठहराई गई, यद्यपि सोने का बाज़ार-भाव उस समय कम था। अठारहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में धातु के सिक्कों की दशा कैसी अस्त-व्यस्त थी, इसका अनुमान इस बात से ही किया जा सकता है कि सन् १७७३ ई० में, भारत के विविध स्थानों में, १३९ तरह की सोने की मोहरें, ६१ तरह के दक्षिणी भारत के सोने के सिक्के 'हुन', जिन्हें योरपियन लोग 'पगोड़ा' कहते थे, ५५६ तरह के चाँदी के रुपए तथा २१४ प्रकार के विदेशी सिक्के व्यवहार में आते थे।

इस गड़बड़ी को दूर करने के लिये कंपनी ने अपने अधिकार-क्षेत्र में, शाहआलम द्वितीय के राज्य-काल के १९वें वर्ष (सन् १७७८ ई०) में, उस ढले हुए 'सिक्के रुपए' को प्रामाणिक सिक्का स्वीकार किया, जिसे वह कलकत्ते में ढालती थी। इसके अतिरिक्त कंपनी ने

अन्य प्रांतों में तीन और रुपए जारी किए। उनका व्यवहार स्थानिक था। अशर्फ़ियों का प्रचार भी जारी रक्खा गया।

सन् १८३५ ई० में चाँदी के रुपए को ही भारत का एक-मात्र क़ानूनन् ग्राह्य (Legal Tender) सिक्का कर दिया गया। सरकार ने दो धातुओं के सिक्कों के चलन का विचार त्याग दिया, और सोने के सिक्के का मूल्य क़ानून से निश्चित करने के बजाय उसे ख़रीदारों की इच्छा पर छोड़ दिया। नई मोहरें ख़ज़ानों में ली जाती थीं, परंतु केवल बाज़ार-भाव से। इस समय से चाँदी के रुपए १८० ग्रेन के बनाए गए। इनमें बारहवाँ हिस्सा मिलावट होती है, और इनके ऊपर इँगलैंड-नरेश की आकृति रहती है।

सोने का सिक्का बंद—अमेरिका और दक्षिण-आफ़्रिका में सोने की नई खानें मिलने से भारत-सरकार को सहसा यह शंका हुई कि शायद सोने का मूल्य घट जाय, और विनिमय में मोहर लेने से हानि हो। अतः सन् १८५३ ई० में लॉर्ड डलहौसी ने यह आज्ञा निकाली कि सरकारी ख़ज़ाने से मोहरें न भुनने पावें। इस प्रकार यहाँ से सोने के सिक्के का प्रचार उठ गया।

चाँदी की क़ीमत गिरने से सरकार को हानि—सन् १८६० ई० से भारत में सोने का आयात कम हो गया, और इस बीच में चाँदी का आयात इतना बढ़ गया कि सोने की तुलना में उसका मूल्य कम होता गया। उस समय से अन्य देशों में चाँदी के सिक्कों का चलन क्रमशः बंद होता गया। आस्ट्रेलिया तथा योरप के जिन देशों में सोने का सिक्का प्रामाणिक था, उनके साथ व्यापार करने में भारत को बहुत क्षति पहुँचने लगी। विदेशों को उनका बाक़ी चुकता करने तथा इँगलैंड को प्रति वर्ष होम-चार्जेज़ की लगभग २६ करोड़ रुपए की रक़म भेजने में भारतवर्ष सोने का सिक्का देने को बाध्य था। इसलिये चाँदी के मूल्य में जितनी कमी हुई, उतना ही अधिक

रुपया भेजना पड़ा । प्रति वर्ष करोड़ों रुपयों का व्यर्थ का व्यय, बात-की-बात में, बढ़ गया। इसके लिये कर की वृद्धि हुई ; आयात-निर्यात-कर, नमक का कर, इनकम्-टैक्स (आय-कर) तथा विविध प्रकार के अन्य कर लगाए गए। परंतु कर-वृद्धि की भी एक सीमा थी। अंत को सरकार के दिवालिया होने की नौबत आ गई * ।

सांकेतिक मुद्रा (Token Money)—सन् १८९२ ई० में तत्कालीन असुविधाओं को दूर करने के उपाय खोजने के लिये, लार्ड हरसेल की अध्यक्षता में, एक कमेटी नियुक्त की गई। इसकी सिफ़ारिश से, सन् १८९३ ई० में, करेंसी-ऐक्ट पास हुआ। इससे

(१) जन-साधारण को यह अधिकार नहीं रहा कि वह अपनी चाँदी टकसाल में ले जाकर उसके रुपए ढला सके । आवश्यकता पड़ने पर सिर्फ़ सरकार रुपए ढाल सकती है ।

(२) सावरेन का मूल्य १५) रक्खा गया।

(३) छः साल तक रुपए ढालना बिलकुल बंद रहा।

सन् १८९९ ई० में रुपए का मूल्य, विनिमय में, बढ़कर एक शिलिंग चार पेंस हो गया, जैसा कि सरकार ने निश्चित किया था।

टकसाल बंद कर देने तथा उपर्युक्त व्यवस्था करने से सांकेतिक मुद्रा-प्रणाली प्रचलित की गई। सरकार को रुपए के विदेश-संबंधी विनिमय में तो सुबीता हो गया, परंतु देश को बड़ी विपत्ति का

---

* रुपए का मूल्य घट जाने के कारण यहाँ, एक तो, विदेशी माल महँगा हो गया था, जिससे स्वदेशी व्यवसायों की वृद्धि के साथ ही हमारा बहुत-सा रुपया विदेश जाने से बच सकता था । दूसरे, विदेशों में भारत का माल सस्ता हो जाने के कारण भारत को अपना व्यापार-क्षेत्र बढ़ाने और उससे अच्छा लाभ उठाने का अवसर मिल गया था। परंतु अभाग्य-वश भारतवासी उसके लिये तैयार न थे।

सामना करना पड़ा । लेखनी की एक चोट से देश-भर की समस्त चाँदी के मूल्य में लगभग ३४ फ़ी-सदी की कमी हो गई । टकसाल में पहले सौ तोले चाँदी देने से लगभग १०६ रुपए बन सकते थे, किंतु अब केवल ७० के लगभग ही । सन् १८७७ ई० के दुष्काल में ३·३३ करोड़ रुपए के आभूषण टकसाल में रुपए ढलने के लिये भेजे गए थे । परंतु अब इस नई व्यवस्था के कारण गहनों के बदले बराबर की तौल के रुपए नहीं मिल सकते थे, और कम रुपए मिलने से बाज़ार में माल भी कम मिलता था । अतएव इस व्यवस्था ने सन् १८६७-६८ ई० के भयंकर अकाल में मरते हुओं को और मारा, और देश के शिल्प, व्यवसाय और वाणिज्य को भी भारी धक्का लगाया ।

सांकेतिक रुपयों के चलन के कारण जन-साधारण में, चाँदी के सस्ते होने की हालत में, नक़ली रुपए बनाने की ओर, और चाँदी के महँगे होने की सूरत में रुपए गलाने की ओर, प्रवृत्ति होती है । इस प्रकार सांकेतिक मुद्रा-प्रणाली, दोनों हालतों में, असुविधा-जनक है । इस असुविधा को दूर करने का एक यही उपाय है कि लोगों के अपनी-अपनी धातु के सिक्के ढलवाने के लिये टकसाल खुली रहे ।

भारतवर्ष में पैसा, इकन्नी, दुअन्नी, चवन्नी और अठन्नी ताँबे तथा निकिल-जैसी सस्ती धातुओं की बनी हुई हैं । ये सिक्के मन-मानी संख्या में नहीं चल सकते ; क्योंकि ये एक परिमित संख्या से अधिक क़ानूनन् ग्राह्य नहीं हैं । इन सिक्कों को भारी ऋण में लेने के लिये कोई बाध्य नहीं किया जा सकता । इन्हें कोई जोड़कर भी नहीं रखता ।

सोने के सिक्के का सवाल—सन् १८६३ ई० की व्यवस्था पर विचार करने तथा सम्मति देने के लिये, सर हेनरी फ़ॉउलर की अध्यक्षता में, दूसरी कमेटी सन् १८६८ ई० में बैठी । मुद्रा-प्रणाली के संबंध में खूब जाँच-पड़ताल हुई । कमेटी के प्रस्तावानुसार

सन् १८९९ ई० के ऐक्ट से सावरेन भारत का प्रचलित सिक्का बना दिया गया, और सन् १९०० में, विनिमय को स्थिर रखने के लिये, रुपयों की ढलाई के लाभ से, एक रिज़र्व (Reserve)-कोश स्थापित किया गया। उसी वर्ष भारत के अर्थ-सचिव ने यह घोषित किया था कि कुछ ही सप्ताहों में, बंबई में, सोने की टकसाल खोल दी जायगी, परंतु विलायत के कोशाधिकारियों के विरोध के कारण यह प्रस्ताव सन् १९०३ ई० में बिलकुल रद कर दिया गया। जिन रक़मों का विलायत में भुगतान करना हो, उनके तथा वाणिज्य के सुबीते के लिये 'कौंसिल-बिलों' या सरकारी हुंडियों का प्रयोग आरंभ किया गया।

सन् १९०४ ई० में भारत-सरकार ने भारत-सचिव से अनुरोध किया कि सोने के कोश का एक अच्छा भाग सोने के सिक्कों या धातु (Liquid gold) में रक्खा जाय, और भविष्य में उसका कोई भाग सिक्युरिटियों में न लगाया जाय। किंतु इस बात को भारत-सचिव ने स्वीकार नहीं किया। सन् १९१० ई० में सर जेम्स मेस्टन ने साफ़-साफ़ शब्दों में कह दिया कि वर्तमान मुद्रा-प्रणाली के दोष सोने की मुद्रा चलाने पर ही दूर हो सकते हैं। सन् १९१२ ई० में सर बिट्ठलदास थेकरसी ने भारतीय बड़ी कौंसिल में प्रस्ताव किया कि बिना टकसाली ख़र्च लिए जन-साधारण के सोने के सिक्के ढाले जायँ। सब भारतीय सदस्यों ने इसका समर्थन किया। यद्यपि यह पास नहीं हुआ, तो भी भारत-सरकार ने, भारत-सचिव से, भारत में सावरेन ढालने की एक टकसाल खोलने का अनुरोध किया। किंतु विलायती कोशाधिकारियों के विरोध के कारण उस समय के भारत-सचिव ने दस रुपए का सोने का नया सिक्का चलाने का प्रस्ताव किया, जिसे भारत-सरकार ने भी स्वीकार कर लिया। सन् १९१२ ई० में भारत-सरकार के मांटेग्यू-कंपनी द्वारा गुप्त रूप

से चाँदी ख़रीदने पर पार्लियामेंट में एक जोशीली बहस हुई। परिणाम-स्वरूप चेंबरलेन-कमीशन की नियुक्ति हुई। इसने फ़ॉउलर-कमेटी के कुछ प्रस्तावों को रद कर दिया, और वर्तमान व्यवस्था को स्थिर रखने के लिये अनुरोध किया।

युद्ध-काल में मुद्रा-संबंधी आवश्यकताओं से विवश होकर सरकार ने स्वयं उपर्युक्त सब आपत्तियों की अवहेलना की, और अगस्त सन् १९१८ ई० में, बंबई में, सोने की टकसाल खोल दी, जो लंदन की टकसाल की शाखा समझी गई। पर एप्रिल, सन् १९१९ ई० में यह बंद कर दी गई। इस बीच में २१,१०,००० स्वर्ण की मोहरें और १२,९५,००० सावरेन ढाले गए। इस टकसाल के पुनः खोलने तथा जारी रखने की अतीव आवश्यकता है।

मुद्रा-ढलाई-लाभ-कोश (Gold Standard Reserve)—भारतवर्ष को, दूसरे देशों से व्यापार करते समय, पौंड में व्यवहार करना पड़ता है। पौंड प्रामाणिक सिक्का होने के कारण, दूसरे देशों के सिक्कों से बदला जा सकता है, रुपया नहीं बदला जा सकता; क्योंकि अधिकतर देशों में चाँदी के सिक्कों का चलन नहीं है, और चलन हो भी, तो हमारे रुपए के सांकेतिक सिक्का होने के कारण अन्य देशवाले उसे बाज़ारू भाव पर लेना स्वीकार नहीं करते। अब हम उस कोश का वर्णन करते हैं, जिसके द्वारा रुपए और पौंड का पारस्परिक मूल्य स्थिर रखने में सहायता मिलती है। भारत-मंत्री के पास इँगलैंड में, तथा भारत-सरकार के पास इस देश में, एक स्थायी कोश रहता है, जिससे हुंडियों का रुपया चुकाया जाता और जिसमें हुंडी की बिक्री का रुपया जमा होता है। इसका नाम अँगरेज़ी में Gold Standard Reserve है। रुपए ढालने से सरकार को जो लाभ होता है, वह इसी में जमा किया जाता है। ३० नवंबर, सन् १९२३ ई० को इसकी स्थिति इस प्रकार थी—

	हज़ार पौंड	हज़ार रुपए
इँगलैंड में		
(क) सिक्युरिटियाँ	४,००,६८·६	६०,१४,७६·०
(ख) बैंक ऑफ़ इँगलैंड में नक़द	१·५	२२·५
भारत में	......	......
योग	४,०१,००·१	६०,१५,०१·५

रुपए और सावरेन का पारस्परिक मूल्य स्थिर रखने में इस कोश से सहायता मिलती है । सन् १८६६ ई० से महायुद्ध के प्रारंभ तक विनिमय की दर प्रायः १ शिलिंग ४$\frac{1}{8}$ पेंस से अधिक नहीं बढ़ी, और न १ शिलिंग ३$\frac{15}{16}$ पेंस से नीचे ही गिरी ।

युद्ध-काल में मुद्रा-व्यवस्था—युद्ध-काल में भारत से बहुत-सा अन्न आदि माल इँगलैंड गया, पर वहाँ से यहाँ बहुत कम सामान आ सका । साथ ही संसार में, आवश्यकतानुसार चाँदी प्राप्त न होने के कारण, उसका भाव चढ़ता गया । अतः कौंसिल-बिलों का भाव धीरे-धीरे बढ़ाना पड़ा । १ अगस्त, सन् १९१७ ई० को एक रुपए के बदले में १ शिलिंग ५ पेंस मिलते थे ; १२ एप्रिल, सन् १९१८ ई० को यह दर १ शिलिंग ६ पेंस हो गई । फिर यह दर १५ मई, १९१९ ई० को १ शिलिंग ८ पेंस, १५ अगस्त सन् १९१९ ई० को १ शिलिंग १० पेंस, १ ऑक्टोबर को २ शिलिंग $\frac{1}{4}$ पेंस, १ दिसंबर को २ शिलिंग ३$\frac{1}{2}$ पेंस और १ फ़रवरी, सन् १९२० ई० को २ शिलिंग ८$\frac{1}{2}$ पेंस तक चढ़ गई !

सन् १९१९ ई० की करेंसी-कमेटी—विनिमय में अभूतपूर्व गड़बड़ी होते देख, मुद्रा-व्यवस्था के प्रश्न पर विचार करने के लिये, सरकार ने मई, सन् १९१९ ई० में एक करेंसी-कमेटी नियत की । इसमें श्रीयुत दादीबा मिरवानजी दलाल ही एक-मात्र हिंदुस्थानी सदस्य थे, और शेष सब अँगरेज़ । श्रीयुत दलाल ने अपना मत अलग प्रकट किया । पर समस्त अँगरेज़ सदस्य एक-मत रहे ।

वहु-मत की सलाह—बहु-मत (अँगरेज़ों) की ख़ास-ख़ास सलाहें ये हैं—

(१) प्रचलित रुपए की तौल और उसमें चाँदी का परिमाण ज्यों-का-त्यों रक्खा जाय।

(२) सरकार ने रुपए का भाव अब तक सावरेन (पौंड) में निश्चित कर रक्खा था, आगे से सोने में करना चाहिए; क्योंकि इँगलैंड में नोटों का अधिक प्रचार हो जाने के कारण सोने और सावरेन (काग़ज़ी पौंड) के पारस्परिक भाव में अब वह स्थिरता नहीं रही। एक रुपए का मूल्य ११·३००१६ ग्रेन सोने के मूल्य के बराबर रक्खा जाय, अर्थात् सावरेन (स्वर्ण-पौंड) का भाव १५ रु० की जगह १० रु० कर दिया जाय।

(३) यह भाव स्थिर हो जाने पर सोने के आयात पर से सरकारी रोक उठा दी जाय।

(४) जिनके पास सावरेन हैं, उन्हें कुछ समय तक उन सावरेनों को सरकारी ख़ज़ाने से पंद्रह-पंद्रह रुपए में भुनाने दिया जाय।

(५) बंबई में फिर सोने की टकसाल खोली जाय, और जो लोग सोना दें, उन्हें बदले में सावरेन ढालकर दिए जायँ।

(६) चाँदी के आयात पर से सरकारी रोक, कुछ दिन बाद, उठा ली जाय, परंतु निर्यात पर जारी रक्खी जाय।

(७) प्रजा को अपनी पसंद का सिक्का या नोट मिलना चाहिए, परंतु अच्छा तो यही होगा कि विदेशी भुगतान के लिये सोना काम में लाया जाय, और देश में नोटों तथा रुपयों का विशेष व्यवहार रहे।

(८) सरकार नोटों के बदले में रुपया देने के लिये सदा तैयार रहे।

श्रीयुत दलाल की सलाह—

(१) रुपए और सावरेन का भाव पहले-जैसा ही रक्खा जाय, अर्थात् १५ रु० का एक सावरेन रहे ।

(२) प्रजा को सोना और उसके सिक्के तथा चाँदी मँगाने और बाहर भेजने का बे-रोक-टोक अधिकार दिया जाय ।

(३) सरकार बंबई की टकसाल में, विना कुछ लिए ही, सोने के बदले में सावरेन ढालकर दिया करें ।

(४) बंबई की टकसाल अपने ख़र्च से प्रजा के सोने को साफ़ कर दिया करे ।

(५) रुपए में १६५ ग्रेन चाँदी रहती है । जब तक न्यूयार्क में फ़ी औंस ६२ सेंट * से ऊपर चाँदी का भाव रहे, तब तक सरकार रुपए न ढाले, और एक अन्य सिक्का जारी करे, जिसका बाज़ारू मूल्य २ रु० हो । रुपए में अब जितनी चाँदी रहती है, उस नए सिक्के में उससे दुगनी न हो—कुछ कम हो ।

(६) निकल की अठन्नी बंद करके चाँदी की ढाली जाय, और जितनी चाँदी रुपए में होती है, उस नवीन अठन्नी में उससे आधी न हो, कुछ कम हो । इस अठन्नी को अपरिमित संख्या में क़ानूनन् ग्राह्य सिक्का बनाया जाय ।

(७) प्रजा को प्रचलित सिक्के ढलवाने का जो अधिकार प्राचीन काल से रहा है, वह पुनः दिया जाय ।

(८) करेंसी-नोट भारतवर्ष में छपें । एक रुपएवाले नोट बंद कर दिए जायँ, और फिर कभी उन्हें जारी न किया जाय ।

(९) पेपर-करेंसी-रिज़र्व का जो धन इँगलैंड में रहता है, वह भारत में रक्खा जाय ।

भारत-सरकार का निर्णय—भारत-मंत्री ने श्रीयुत दलाल की

---

* भारतवर्ष में लगभग साढ़े सत्रह आने फ़ी तोला ।

सलाह न मानकर बहु-मत की सलाह ही को स्वीकार किया। और, भारत-मंत्री के आज्ञानुसार भारत-सरकार ने अपनी सूचनाएँ प्रकाशित कीं। सावरेन का क़ानूनी भाव दस रुपए कर दिया गया। सोने का आयात अभी सरकार ने अपने हाथ में रक्खा, जिससे यहाँ सोना लाकर उसका भाव गिरा दिया जाय। सावरेन और आधे सावरेन के बदले में रुपया देना बंद कर दिया गया। चाँदी के आयात पर का चार आने फ़ी-औंस कर उठा दिया गया। परंतु निर्यात पर कर जारी रक्खा। सावरेन और रुपए को सिक्के के सिवा और किसी काम में लाने की निषेधात्मक सरकारी आज्ञा वापस ले ली गई। यह भी निश्चय किया गया कि सरकार को ख़ास अपने काम के लिये जितनी हुंडियाँ करनी आवश्यक होंगी, उतनी ही की जायँगी।

विनिमय का भाव चढ़ने से लाभ—भारत-मंत्री और कमेटी के अँगरेज़ मेंबरों की राय में उक्त सुधारों से, और विशेषकर विनिमय का भाव चढ़ने से, देश को लाभ है। चाँदी का भाव सोने और सावरेन में बढ़ जाने से, अथवा सावरेन का मूल्य १५ रु० के बदले १० रु० रहने से विलायती माल का भुगतान करने में, रुपया कम देना होता है, विदेशी माल सस्ता पड़ता है, और मशीन आदि में कम व्यय होने से यहाँ के व्यवसाय को सहायता मिलती है। होम-चार्जेज़ का भुगतान थोड़े रुपयों में ही हो जाने से प्रति वर्ष बारह-तेरह करोड़ रुपए की बचत होती है।

हानि अधिक है—यद्यपि विलायती मशीन आदि मँगाने से भारतवर्ष को कुछ लाभ हो सकता है, परंतु अन्य विलायती माल सस्ता होने से उसकी खपत यहाँ अधिक होती है, और स्वदेशी व्यवसायों को धक्का पहुँचता है। हमें सस्ता माल बनाने का अवसर नहीं मिलता, इससे हमारे उद्योग-धंधों को अपार हानि होती है। जो सावरेन या सोना यहाँ सरकारी कोशों में, हुंडियों के भुगतान आदि

के लिये, रक्खा हुआ है, उसका मूल्य घटकर दो-तिहाई रह जाने से हमें ३८ करोड़ से अधिक की हानि होगी। कमेटी का कहना है कि होम-चार्जेज़ में प्रति वर्ष १२-१३ करोड़ की बचत होने के कारण यह हानि तीन वर्ष ही में पूरी हो जायगी, और उसके बाद जो बचत होगी, वह लाभ होगा। परंतु देश के अन्य आदमियों के पास जो सोना है, उसका मूल्य भी तो एक-तिहाई कम हो जायगा!

दूसरा परिच्छेद

कागज़ी मुद्रा; नोट आदि.

प्राक्कथन—बड़े व्यापारों में सोने-चाँदी आदि के भारी सिक्कों को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने में बड़ी असुविधा होती है। इस असुविधा को दूर करने के लिये धातु का आधार छोड़कर लोग कागज़ी रुपयों से ही अपना काम निकाल लेना चाहते हैं।

नोट या कागज़ी मुद्रा वास्तविक सिक्के नहीं, ये केवल एवज़ी (Fiduciary) सिक्के ही हैं, जो चलानेवाले के विश्वास या साख पर चलते हैं। ये अपने ही देश (या प्रांत) में भुनाए जा सकते हैं, विदेशों में इनका कोई मूल्य नहीं होता। आवश्यकता से अधिक होने पर तो ये देश के लिये बहुत हानिकर होते हैं।

भारतवर्ष में नोटों का प्रारंभ—यहाँ के व्यापारियों में हुंडी-पुर्ज़े का प्रचार चिर काल से रहा है। परंतु वर्तमान नोटों का चलन अँगरेज़ी शासन में ही हुआ। नोटों का प्रचार यहाँ पहले-पहल सन् १८३९ ई० में हुआ, जब कि बंगाल-बैंक को नोट निकालने की अनुमति मिली। सन् १८४० ई० में बंबई के और सन् १८४३ ई० में मदरास के प्रेसिडेंसी-बैंकों को भी नोट निकालने का

अधिकार मिल गया। इन नोटों का प्रचार पहले अधिकतर उक्त नगरों में ही हुआ। मद्रास-बैंक को एक करोड़ और अन्य दोनों बैंकों को दो-दो करोड़ तक के नोट निकालने का अधिकार दिया गया था।

सन् १८६१ ई० से इन बैंकों का यह अधिकार छिन गया, और भारत-सरकार ने नोट निकालने का काम अपने हाथ में लेकर इसके लिये एक पृथक् विभाग खोला, और नोट जारी करने के ६ केंद्र स्थापित किए। ५), १०), २०), १००), ५००), १,०००) और १०,०००) के नोट इन केंद्रों से जारी किए गए। जो नोट जिस केंद्र से जारी किए गए, वे केवल उसी केंद्र से अधिकार-पूर्वक भुनाए जा सकते थे।

काग़ज़ी मुद्रा-कोष (Paper Currency Reserve)—सन् १८६१ ई० में यहाँ की नोट निकालने की नीति में सुधार करने के लिये भारत के अर्थ-सचिव ने एक बिल उपस्थित किया; जो उसी वर्ष पास हो गया। उसका आधार वह प्रणाली थी, जो इँगलैंड के सन् १८४४ ई० के बैंक-चार्टर-ऐक्ट के अनुसार निर्धारित की गई थी।

इसी क़ानून के अनुसार भारत-सरकार ने, सन् १८६१ ई० से, नोट निकालना आरंभ किया। इस क़ानून का मुख्य सिद्धांत यह है कि जितने रुपयों के नोट निकाले जायँ, उतने ही रुपयों का एक कोश अलग रक्खा जाय। इस कोश को अँगरेज़ी में पेपर-करेंसी-रिज़र्व (Paper Currency Reserve) कहते हैं।

इस कोश का कुछ भाग सोने-चाँदी तथा इन्हीं धातुओं के सिक्कों में और शेष सरकारी सिक्युरिटियों (ऋण-पत्रों) में रक्खा जाता है। सिक्युरिटियों के संबंध में समय-समय पर क़ानून द्वारा परिवर्तन किया गया है।

सन् १८६३ ई० में ५ करोड़ ११ लाख रुपए के नोट प्रचलित थे, और इस कोश का हिसाब इस प्रकार था—

रुपयों में १ करोड़ ६३ लाख रुपए,

चाँदी में १ करोड़ १७ लाख रुपए,

शेष २ करोड़ १ लाख रुपए अर्थात् कुल नोटों का ४० फ़ी-सदी हिस्सा सरकारी सिक्युरिटियों में था।

सिक्युरिटियों की वृद्धि—सन् १८७१ ई० में कोष में सिक्युरिटियों की सीमा चार करोड़ से ६ करोड़ निर्द्धारित की गई। सन् १८६० ई० में यह ८ करोड़ तथा सन् १८६६ ई० में १० करोड़ निश्चय कर दी गई। सन् १६०५ ई० में यह सीमा १२ करोड़ की गई, और यह नियम बनाया गया कि ब्रिटिश संयुक्त-राज्य की सिक्युरिटियाँ, जो दो करोड़ से अधिक न हों, इनमें सम्मिलित कर ली जायँ। सन् १६११ ई० में सिक्युरिटियों की सीमा १४ करोड़ कर दी गई, और यह तय किया गया कि उसमें से चार करोड़ रुपया ब्रिटिश संयुक्त-राज्य की सिक्युरिटियों में भी लगाया जा सकता है। इस प्रकार इन सिक्युरिटियों की सीमा क्रमशः बढ़ती गई, और युद्ध-काल में इसकी बहुत ही अधिक वृद्धि हुई। सन् १६१८ ई० के नवीन ऐक्ट से ब्रिटिश ट्रेज़री-बिलों * की ज़मानत पर निकले हुए नोटों की सीमा ८६ करोड़ निश्चय कर दी गई। पीछे से, सन् १६१६ ई० में, यह सीमा १०० करोड़ तक पहुँच गई।

युद्ध के पूर्व पाँच वर्षों में काग़ज़ी मुद्रा-कोष में सिक्युरिटियाँ औसतन् २२ फ़ी-सदी थीं; सन् १६१५ ई० में ये २२·७, सन् १६१६ में २६·५, सन् १६१७ में ५७·१, सन् १६१८ में ६१·१ और सन् १६१६ में ६५·४ फ़ी-सदी हो गईं। युद्ध के बाद ये सिक्युरिटियाँ क्रमशः घटाई गईं। सन् १६२० ई० में ये फ़ी-सदी

---

* ३, ६ या १२ महीने के लिये ब्रिटिश सरकार द्वारा जो ऋण लिया जाता है, उसका ऋण-पत्र ट्रेज़री-बिल कहलाता है।

४६·७, सन् १६२१ ई० में ४७·६, और जून सन् १६२२ ई० में ४१·८ थीं। ३१ दिसंबर, सन् १६२३ को कुल नोट १८३·४१ करोड़ रुपए के थे। इनके कोष का हिसाब इस प्रकार था—

चाँदी और सोना—भारत में	१०८·६३	करोड़ रुपए
सिक्युरिटियाँ—भारत में	६५·४८	,, ,,
,, इँगलैंड में	६·००	,, ,,

इस प्रकार अंतिम हिसाब में कुल सिक्युरिटियाँ ७४·४८ करोड़ रुपए की, अर्थात् कुल काग़ज़ी मुद्रा-कोष की ४०·६ फ़ी-सदी थीं।

कोष का रूप और स्थान—पहले कुछ वर्ष तक काग़ज़ी मुद्रा-कोष अधिकतर रुपयों में और भारतवर्ष में ही रक्खा गया था। सन् १८६८ ई० से यह नीति अस्थायी रूप से बदली गई, और उक्त कोष का कुछ अंश, स्वर्ण-मुद्रा के रूप में, इँगलैंड में रक्खा जाने लगा; जिसमें वह वहाँ चाँदी ख़रीदने तथा विनिमय की दर स्थिर रखने में काम आ सके।

सन् १६०२ ई० के क़ानून से ऐसा नियम हो गया कि भारत-सरकार इस कोष का वह भाग, जिसे वह धातु के रूप में रखना आवश्यक समझती हो, लंदन या भारत में और सोने या चाँदी अथवा दोनों में, अपने इच्छानुसार, रख सके। परंतु चाँदी के सिक्के केवल भारतवर्ष में ही रक्खे जाते हैं, लंदन में नहीं।

कोष पर जो ब्याज मिलता है, उसमें से काग़ज़ी मुद्रा-विभाग का व्यय निकालकर जो शेष रहता है, वह 'नोट-प्रचलन के लाभ' की मद में डाल दिया जाता है।

इस कोष का एक बड़ा भाग लंदन में रक्खा जाता है। उससे भारत-सचिव

(१) सोना मोल लेकर लंदन में रख लेते हैं,

(२) सोना मोल लेकर भारत को भेज देते हैं, अथवा

(३) भारत-सरकार को रुपए ढालने के लिये चाँदी भेज देते हैं।

इनमें से अधिकतर पहली और तीसरी बात ही होती है।

काग़ज़ी मुद्रा-क़ानून—मई, सन् १६१६ ई० में भारत-सचिव ने भारतवर्ष की काग़ज़ी मुद्रा-प्रणाली की जाँच करने के लिये एक कमेटी नियुक्त की। उसकी रिपोर्ट प्रकाशित हो जाने पर, सितंबर सन् १६२० ई० में, बड़ी व्यवस्थापक सभा ने काग़ज़ी मुद्रा-संबंधी क़ानून पास किया; जिसकी मुख्य-मुख्य धाराएँ ये हैं—

(१) जितने रुपए के नोट निकाले जायँ, उसकी कम-से-कम आधी रक़म, सोना या चाँदी के रूप में, भारत में रक्खी जाय।

(२) कोष से केवल २० करोड़ रुपया ही भारत-सरकार की सिक्युरिटियाँ ख़रीदने में लगाया जाय।

(३) कोष की शेष रक़म ब्रिटिश सरकार की ऐसी सिक्युरिटियाँ ख़रीदने में लगाई जाय, जो एक वर्ष के अंदर सकारी जा सकें।

(४) काग़ज़ी मुद्रा-संचालक (कंट्रोलर ऑफ़ करेंसी) को यह अधिकार दिया जाय कि वह ऐसी व्यापारी हुंडियों की ज़मानत पर, जो तीन महीने के अंदर सकारी जा सकें, व्यापार की तेज़ी के समय पाँच करोड़ रुपए तक के नोट * निकाल सके।

(५) जब तक काग़ज़ी मुद्रा-कोष में भारत-सरकार की सिक्युरिटियाँ २० करोड़ से कम नहीं हो जातीं, तब तक कोष की सिक्युरिटियों में लगाई गई रक़म की सीमा ८५ करोड़ रुपए रहे।

अब भारत के करेंसी-नोट बहुत सुरक्षित दशा में हो गए हैं, और उनकी आवश्यकता से अधिक परिमाण में निकाले जाने की आशंका कम हो गई है।

कोष को लंदन में रखने से हानि—कोष को लंदन में रखना बहुत अनुचित है। यदि सिक्के बनाने के लिये भारत में

* अब यह अधिकार और अधिक—८ करोड़ तक—कर दिया गया है।

काफ़ी चाँदी न मिले, और लंदन से उसका लेना आवश्यक ही हो, तो भारत-सचिव लंदन में कौंसिल-बिल बेचकर उसकी रक़म से चाँदी ख़रीद सकता है। अतएव चाँदी ख़रीदने के लिये कोष की रक़म वहाँ रखना अनावश्यक है। यह कोष नोटों के बदले में रक्खा जाता है, और नोट भारत में चलते हैं, अतएव यह कोष भी यहीं रक्खा जाना चाहिए; जिसमें आवश्यकता पड़ने पर तुरंत काम में आ सके। नोट भुनाने के अतिरिक्त यदि उसे और भी किसी काम में लाना अभीष्ट हो, तो इसका भी लाभ भारत को ही होना चाहिए। इँगलैंड की ब्रिटिश सरकार ग़रीब भारत के रुपए को कम या नाम-मात्र के सूद पर लेकर अनुचित लाभ उठाती है। इधर भारत के उद्योग-धंधों के लिये पूँजी की अत्यंत आवश्यकता है। वे इस अभाव के कारण पनपने ही नहीं पाते। काग़ज़ी मुद्रा-कोष को भारत में रखकर भारतीय उद्योग-धंधों को बहुत सहायता पहुँचाई जा सकती है।

नोटों का प्रचार—सन् १९०३ ई० तक नोटों का प्रचार बहुत शीघ्रता से नहीं बढ़ा। किंतु इस वर्ष से ५ रुपए के सभी केंद्रों से निकले नोट सभी सरकारी ख़ज़ानों में भुनाए जा सकने लगे। अर्थात् उस समय से ५) के नोट सार्वदेशिक हो गए। इसी प्रकार क्रमशः अन्य नोटों का भी प्रचार सार्वदेशिक कर दिया गया। सन् १९११ ई० में १००) के नोट का प्रचार भी सार्वदेशिक हो गया। सन् १९१३ ई० के कमीशन ने यह सम्मति दी कि सब नोट भुनाए जाने के लिये अधिक सुविधा कर दी जाय। ऐसा हो जाने पर लोग नोटों को अधिकाधिक पसंद करने लगे, और उनके प्रचार की उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी।

सन् १९१७ ई० में १) और २॥) के नोट भी चला दिए गए। इनके चलाने का विशेष कारण यह आ पड़ा कि युद्ध-काल में,

देश में, रुपयों की माँग बहुत बढ़ गई थी, किंतु चाँदी के महँगी हो जाने के कारण रुपए अधिक परिमाण में नहीं ढाले जा सकते थे।

नोटों के प्रचार के विषय में कुछ ज्ञातव्य अंक नीचे दिए जाते हैं—

नोट	प्रचलित नोटों की संख्याएँ (हज़ारों में)			
	३१ मार्च १६१४	३१ मार्च १६१७	३१ मार्च १६१६	३१ मार्च १६२१
१)का	...	...	१०,५०,६५	६,५२,५५
२॥)का	...	...	७३,३८	२०,३७
५)का	३२,२३	४६,२६	१,८३,८१	२,८०,६३
१०)का	१,७७,२७	२,४५,६८	४,६६,२२	५,२६,६८
२०)का	३८	२१	१७	१४
५०)का	३,५७	५,०४	६,७६	७,६६
१००)का	१७,८२	२५,३२	४३,८०	४७,२२
५००)का	५२	४८	४६	५०
१,०००)का	६१	१,१३	१,५१	१,७८
१०,०००)का	१५	१८	१८	१७
जोड़	२,३२,८५	३,२४,६०	१८,२३ ००	१८,३८,०७
क़ीमत हज़ार रुपयों में	६६,११,७५	८६,३७,५१	१,५३,४६,४७	१,६६,१५,६३

इससे स्पष्ट है कि युद्ध के अंत तक भारत-सरकार ने युद्ध से पहले की अपेक्षा दुगने से भी अधिक मूल्य के नोट प्रचलित किए।

नोटों की अधिकता के कारण बट्टा और महँगी—इन नोटों को चलाने के समय सरकार ने कहा था कि किसी भी सरकारी ख़ज़ाने से इनके बदले में नक़द रुपए मिल सकेंगे, और ५ रुपए तक तो डाकख़ानों से भी मिल जायँगे। इससे इन नोटों का प्रचार बढ़ गया। परंतु पिछले वर्षों में बंबई के करेंसी-ऑफ़िस को छोड़कर अन्य किसी करेंसी-ऑफ़िस या बाज़ार में नोटों के रुपए भुनाना बहुत कठिन क्या, अनेक स्थानों में असंभव हो गया था। यद्यपि नोटों पर बट्टा लेना सरकारी क़ानून से जुर्म माना जाता है, तथापि बाज़ारों में इसका लेना और देना अप्रचलित नहीं था। युद्ध के समय में तो नोटवालों को बट्टे से बहुत ही हानि उठानी पड़ी थी। इससे सरकार की साख को कुछ समय तक बड़ा भारी आघात पहुँचा, जहाँ-तहाँ लोगों में यह बात फैल गई कि सरकार के ख़ज़ाने में सोना-चाँदी नहीं रहा, इसलिये वह काग़ज़ के टुकड़ों से काम चलाती है। इसी बीच में दुअन्नी, चवन्नी तथा अठन्नी भी चाँदी की जगह निकल-धातु की चलाई गई। इससे सरकार की आर्थिक स्थिति के संबंध में लोगों का अविश्वास और भी बढ़ गया।

सरकार ने इस अविश्वास को दूर करने की चेष्टा की, परंतु गई हुई साख जल्दी नहीं लौटती। यदि सरकार नोट आवश्यकता से अधिक न निकालती, और निकाले हुए नोटों के भुनाए जाने का आवश्यक प्रबंध रखती, तो न तो लोगों को बट्टे की हानि उठानी पड़ती, और न उनमें उपर्युक्त अविश्वास ही बढ़ता।

बट्टे की हानि से कहीं अधिक दुःखदायी भार महँगी का कष्ट होता है। सरकार का कथन है कि रुपए और नोटों की वृद्धि से महँगी का कोई अधिक संबंध नहीं, परंतु यह संबंध अनिवार्य है। यदि लेन-देन या बाज़ार की आवश्यकता से अधिक रुपए या नोटों की वृद्धि कर दी जाय, तो नीचे दिए हुए सिद्धांत से यह आसानी से समझ में आ जायगा कि रुपए या नोटों का मूल्य किस तरह घट जायगा। इससे पदार्थों का दाम बढ़ जायगा, और देश में महँगी हो जायगी। अक्सर यह देखा गया है कि अकाल के वर्ष छोड़कर जिस वर्ष नोटों या प्रचलित सिक्कों की भरमार हुई है, उस वर्ष या उससे अगले वर्ष जनता पर महँगी का भार अवश्य पड़ा है।

रुपए-पैसे का पारिमाणिक सिद्धांत—इस संबंध में श्रीयुत पं० दयाशंकरजी दुबे एम्० ए०, एल्-एल्० बी० ने कार्त्तिक, संवत् १६७६ के 'साहित्य'-पत्र में एक ज्ञातव्य लेख प्रकाशित कराया था। हम यहाँ उसका सारांश देते हैं—

रुपया-पैसा विनिमय का साधन है। जब इसके परिमाण या चलन-गति में परिवर्तन होते हैं, तो उनका असर सब वस्तुओं पर एक-सा पड़ता है। पहले परिमाण पर विचार किया जाता है। मान लीजिए, किसी समय संपूर्ण भारत में २०० करोड़ रुपए के सिक्के और नोट उपयोग में लाए जाते हैं। यदि लेन-देन की मात्रा उतनी ही रहे, और सरकार नए सिक्कों को ढालकर और नोटों का प्रचार बढ़ाकर चालू रुपए-पैसे का परिमाण ४०० करोड़ कर दे, तो जो काम पहले एक रुपए में होता था, वह धीरे-धीरे दो रुपए में होने लगेगा—जो वस्तु एक रुपए में मिलती थी, उसके लिये दो रुपए माँगे जायँगे, और दिए भी जायँगे। इस प्रकार रुपए की क़ीमत आधी और मज़दूरी की दर तथा वस्तुओं का मूल्य दूना हो जायगा।

रुपए-पैसे की चलन-गति का असर वस्तुओं की क़ीमत पर दूसरी ही तरह से पड़ता है। रुपए-पैसे का सदा हस्त-परिवर्तन होता रहता है। यदि सड़कों तथा नई रेल-लाइनों के बन जाने से वस्तुओं को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में सुबीता हो जाय, बैंकों का प्रचार बढ़ जाय, अथवा रुपयों के बदले में देशवासी चेक का अधिक उपयोग करने लगे, तो देश का चालू रुपया-पैसा व्यापार के मार्गों द्वारा, अधिक वेग से, काम करने लगता है। उसका हस्त-परिवर्तन और चलन-गति बढ़ जाती है। इससे उतना ही रुपया-पैसा अधिक लेन-देन करने में समर्थ हो जाता है। और, यदि लेन-देन की मात्रा न बढ़ी, तो फिर वस्तुओं का मूल्य उतना ही बढ़ने लगता है, जितनी चलन की गति बढ़ती है; क्योंकि रुपए-पैसे अब पहले की अपेक्षा कईगुने अधिक काम में लाए जाते हैं। इसका वही असर होता है, जो रुपए-पैसे के परिमाण के बढ़ने से।

यह रुपए-पैसे का पारिमाणिक सिद्धांत (Quantity Theory of Money) है। अर्थात्, यदि लेन-देन की मात्रा पहले के बराबर रहे, तो वस्तुओं की क़ीमत उसी अनुपात में बढ़ती (या घटती) है, जिस अनुपात में चालू रुपए-पैसे का परिमाण या उसकी चलन-गति बढ़ती (या घटती) है।

गत महायुद्ध के समय इस सिद्धांत की सत्यता बहुत अच्छी तरह प्रमाणित हो गई। नीचे यह दिखाया जाता है कि भिन्न-भिन्न वर्षों के अंत में (३१ दिसंबर को) भारत में चालू सिक्के, नोट और प्रधान बैंकों की अमानत-जमा का परिमाण क्या था, और यदि सन् १८७३ ई० की वस्तुओं की क़ीमत १०० मान ली जाय, तो अन्य वर्षों में वह क्या थी—

सन्	चालू रुपए-पैसे का परिमाण				वस्तुओं की क़ीमत (सन् १८७३ ई० में १००)
	सिक्के	नोट	बैंकों की अमानत-जमा	योग	
१९१२	१८२	६६	९७	३४५	१३७
१९१३	१९१	६५	९८	३५४	१४३
१९१४	१८७	६१	९४	३४२	१४७
१९१५	२०४	६२	९६	३६२	१५२
१९१६	२१५	८२	११४	४११	१८४
१९१७	२३०	१०८	१६१	४९९	१९६
१९१८	२६०	१४७	१६३	५७०	१२५
१९१९	२८०	१८३	२१२	६७५	२७६
१९२०	२५०	१६१	२३५	६४६	२८१
१९२१	२२०	१७३	२०४	५९७	२६०

अब यदि हम सन् १९१२ के चालू रुपए-पैसे का परिमाण और वस्तुओं की क़ीमत १००-१०० मान लें, तो अन्य वर्षों के चालू रुपए-पैसे का परिमाण और वस्तुओं की क़ीमत निम्न-लिखित तालिका के अनुसार होगी—

सन्	चालू रुपए-पैसे का परिमाण	वस्तुओं की क़ीमत
१९१२	१००	१००
१९१३	१०२	१०४
१९१४	९९	१०७
१९१५	१०५	१११
१९१६	११९	१३४
१९१७	१४५	१४३
१९१८	१६५	१६४
१९१९	१९५	२०१
१९२०	१८७	२०५
१९२१	१७३	१९०

इन अंकों से यह विदित होता है कि चालू रुपए-पैसे का परिमाण सन् १६१६ ई० तक (सिर्फ़ सन् १६१४ ई० को छोड़कर) बढ़ता ही गया, और वस्तुओं की क़ीमत भी प्रायः उसी अनुपात में बढ़ती गई। सन् १६१७ और १६१८ ई० में क़ीमतें ठीक उसी अनुपात में बढ़ी हुई थीं, जिस अनुपात में चालू रुपए-पैसे का परिमाण बढ़ा था। सन् १६२० ई० से रुपए-पैसे के परिमाण का कम होना आरंभ हुआ, परंतु वस्तुओं की क़ीमतें सन् १६२१ ई० से कम होने लगीं। इसका कारण यह है कि रुपए-पैसे के परिमाण के घटने-बढ़ने का असर क़ीमत पर पड़ते-पड़ते कुछ समय व्यतीत हो जाता है। अतएव भारतीय वस्तुओं की भाव-वृद्धि का प्रधान कारण चालू रुपए-पैसे की परिमाण-वृद्धि, अर्थात् नए सिक्कों का अधिक परिमाण में ढाला जाना और काग़ज़ी मुद्रा का अधिक परिमाण में प्रचार करना, है। यह काम सरकार करती है। इसलिये वही मूल्य-वृद्धि की ज़िम्मेदार है। वस्तुओं की दर किस प्रकार कम हो, इसका मुख्य साधन देश में चालू रुपए-पैसे के परिमाण को कम करना है। यह काम सरकार दो तरह से कर सकती है—

(१) रुपयों का ढालना बिलकुल बंद करके;

(२) काग़ज़ी मुद्रा (करेंसी-नोटों) का प्रचार जान-बूझकर घटा करके

सरकार ने नए रुपयों का ढालना तो बहुत कम कर दिया है, परंतु काग़ज़ी मुद्रा का प्रचार अभी काफ़ी कम नहीं हुआ। सन् १६२० ई० के जनवरी-मास में १८५ करोड़ रुपए के नोट प्रचलित थे। उस वर्ष सितंबर-मास में उनका प्रचार १५८ करोड़ रह गया था। परंतु बाद को प्रायः बढ़ता ही गया। ३१ दिसंबर, सन् १६२३ ई० को वह १८३ करोड़ था। यदि सरकार नोटों का प्रचार कम कर दे, तो वस्तुएँ और भी सस्ती हो जायँ। क्या सरकार अपना कर्तव्य पालन करेगी?

बढ़ने से उनकी उत्पत्ति भी अधिक हो जाती है। इस प्रकार व्यवसायों की वृद्धि होती है। हज़ारों आदमियों की रोज़ी चलती है। व्यवसायों की वृद्धि से साख का व्यवहार स्वतः बढ़ जाता है, और साख का व्यवहार बढ़ने से चीज़ों की क़ीमतें बेहिसाब नहीं चढ़ती-उतरतीं।

साख के प्रभाव से सोने-चाँदी के सिक्कों की ज़रूरत कम हो जाती है। उनका बहुत-सा काम नोट और हुंडी आदि से निकल जाता है। बैंकिंग अथवा महाजनी का काम भी साख पर ही निर्भर है। इसका वर्णन आगे के परिच्छेद में किया जायगा।

मिश्रित पूँजीवाली कंपनियों का काम भी साख ही से चलता है। यदि उनके कार्य-कर्ताओं की साख न हो, तो लोग उनके हिस्से न ख़रीदें, और इसलिये उनके पृथक्-पृथक् अल्प-संचित धन से कोई उत्पादक कार्य न किया जा सके। केवल बड़ी-बड़ी पूँजीवाले ही धनोत्पादन का कार्य कर सकें।

सहकारिता (Co-operation)—अँगरेज़ी के "कोआपरेशन"-शब्द को हिंदी में सहयोग अथवा सहकारिता कह सकते हैं। इसका अर्थ मिल-जुलकर काम करना है। वर्तमान राजनीतिक आंदोलन में असहयोग-शब्द सरकार से न मिलकर काम करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतः इस स्थल पर हमने सहकारिता-शब्द ही का प्रयोग किया है।

भिन्न-भिन्न कार्यों के अनुसार सहकारिता के कई भेद हो सकते हैं। अर्थ-शास्त्र में इसके मुख्य तीन भेद हैं—

(१) उत्पादकों की सहकारिता

(२) उपभोक्ताओं की सहकारिता

(३) साख की सहकारिता

भारतवर्ष में तीसरा भेद ही अधिक प्रचलित है।

साख की सहकारिता—जो पूँजी एक मनुष्य को अपनी साख पर, कभी-कभी बहुत कष्ट तथा प्रयत्न करने पर भी, नहीं मिल सकती, वही, कई मनुष्यों के मिल जाने पर, उन सबकी साख के बल पर, कम ब्याज पर, आसानी से और यथेष्ट मात्रा में मिल सकती है। इस सहकारिता के कुछ लाभ नीचे दिए जाते हैं—

(क) ग़रीब प्रजा अपना क़र्ज़ चुकाने तथा ग़रीबी दूर करने का प्रयत्न कर सकती है।

(ख) अकाल, बीमारियाँ, बेकारी आदि हट सकती है।

(ग) मनुष्य मिलकर वस्तुएँ ख़रीदते हैं, इससे इकट्ठी चीज़ अच्छे भाव से मिल जाती है। कल-पुर्ज़े आदि इकट्ठे मोल लेकर आपस में बिना फ़ीस या थोड़ी फ़ीस पर दिए जा सकते हैं।

भारतवर्ष में सहकारिता का आरंभ—भारतीय किसानों की दीन दशा, दारिद्र्य और क़र्ज़दारी को सब जानते ही हैं। उनकी आर्थिक उन्नति के लिये समय-समय पर तरह-तरह के उपाय किए गए। सन् १८८३ ई० से उन्हें 'तक़ावी' (सरकारी क़र्ज़) सहायता देने की कोशिश की गई। तक़ावी से किसानों को अकाल के मौक़ों पर कुछ मदद तो मिलती थी; पर पुराने ऋण से उनका पीछा नहीं छूट सकता था, और वे किफ़ायत करना नहीं सीखते थे। लगभग ४० वर्ष हुए, स्वर्गीय सर विलियम वेडरबर्न और स्वर्गीय श्रीरानाडे ने मिलकर बंबई-प्रांत के लिये एक खेती का बैंक खोलने का प्रस्ताव किया था। परंतु भारत-मंत्री ने उसकी कामयाबी में कई दिक़्क़तें बतला दीं। फिर सर वेडरबर्न ही ने सबसे पहले भारतवर्ष में सहकारिता का विचार किया। मदरास-सरकार ने, सन् १८९५ ई० में, सर फ़्रेडरिक निकलसन को यह देखने के लिये योरप भेजा कि वहाँ किसानों की मदद के लिये क्या-क्या किया जाता है, और सहकारिता के कौन-कौन-से ढंग भारतवर्ष में व्यवहृत हो सकते

हैं। उनके योरप-भ्रमण का फल Land Banks for the Madras Presidency (मदरास-प्रांत के लिये भूमि-संबंधी बैंक) पुस्तक में अंकित है। इसी प्रकार ड्यूपर्नें महाशय ने इस विषय पर विचार करके, संयुक्त-प्रांत की सरकार की प्रेरणा से, People's Bank for North India (उत्तर-भारत के लिये जनता का बैंक)-नामक पुस्तक लिखी, और सहकारिता के प्रचार का प्रयत्न किया। संयुक्त-प्रांत के लेफ्टिनेंट गवर्नर सर ऐंटनी मेकडानेल ने सन् १९०१ ई० में यहाँ दो सौ सहकारी समितियाँ (Co-operative Societies) खोल दीं।

सन् १९०४ ई० का क़ानून—बाद को भारत-सरकार ने भी इस विषय की ओर ध्यान दिया। सन् १९०१ ई० में लार्ड कर्ज़न ने एक कमेटी नियत की, और १९०४ में सहकारिता का पहला क़ानून (Co-operative Credit Societies' Act) पास हुआ। इसके अनुसार हरएक प्रांत के लिये एक-एक रजिस्ट्रार, सहकारी समितियों के स्थापन-कार्य मे उत्तेजना देने के लिये, नियत हुआ।

इस ऐक्ट में दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं—

(१) इसके नियम बहुत पेचीदा नहीं हैं, सरलता से समझ में आ सकते हैं।

(२) जनता को यह सुविधा दी गई है कि प्रधान नियमों के अंतर्गत, अपनी-अपनी स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार, विशेष नियम बना लें।

इस क़ानून के मुताबिक़ दो तरह की समितियाँ खोली गईं—एक किसानों के लिये और दूसरी शहर में रहनेवाले ग़रीब लोगों के लिये। यह नियम बनाया गया कि किसी गाँव या शहर में अगर एक ही जाति या पेशे के कम-से-कम दस आदमी मिलें, तो उनकी एक सहकारी समिति बन सकती है। उसके सदस्य वे ही हों, जो एक दूसरे

को अच्छी तरह जानते हों। किसानों के लिये जो समितियाँ खोली गईं, उनमें आम तौर पर एक यह नियम बनाया गया कि उनका प्रत्येक सदस्य अपनी समिति का कुल क़र्ज़ चुकाने के लिये ज़िम्मेदार होगा, अर्थात् वे समितियाँ अपरिमित देनदारी (Unlimited Liability) के सिद्धांत पर चलाई जायँगी।

सन् १९१२ ई० का क़ानून—कुछ अनुभव के बाद उक्त क़ानून में कुछ त्रुटियाँ मालूम होने लगीं। पहले सहकारी समितियों से किसान या शहर के छोटे-छोटे कारीगर, कुछ शर्तों पर, रुपए उधार ले सकते थे। धीरे-धीरे अन्य प्रकार की सहकारी समितियाँ खुलने लगीं। इन समितियों के द्वारा लोग एकसाथ मिलकर अपने खेतों की पैदावार बेचते, खेती के ज़रूरी सामान ख़रीदते, और खेतों की पैदावार इधर उधर भेजते थे। ये सब समितियाँ सन् १९०४ ई० के क़ानून के अनुसार नहीं थीं। इन समितियों की सहायता के लिये सेंट्रल बैंक की भी ज़रूरत हुई।

इन सब कारणों से सन् १९१२ ई० में सहकारी समितियों का दूसरा क़ानून पास हुआ, जिसकी कुछ मुख्य बातें ये हैं—

(क) दिहाती और नागरिक समितियों का भेद दूर कर दिया गया।

(ख) सहकारी साख-समितियों के अतिरिक्त अन्य समितियाँ भी बनाई जाने की योजना कर दी गई।

(ग) केंद्रस्थ संस्थाओं के लिये परिमित देनदारी का सिद्धांत जारी किया गया, बशर्ते कि उससे कम-से-कम एक रजिस्टर्ड समिति संबद्ध हो।

(घ) सरकार ने मुनाफ़े के बटवारे का नियंत्रण और निरीक्षण अपने हाथ में ले लिया। बचत-कोष (Reserve Fund) में काफ़ी रक़म जमा हो जाने पर मुनाफ़े का कुछ हिस्सा सभासदों

को, डिविडेंड के तौर पर, बाँटे जाने और उसकी दस फ़ी-सदी तक रक़म के दान-धर्म में दिए जाने की व्यवस्था कर दी गई।

(च) 'सहकारी'-शब्द का प्रयोग केवल उन्हीं समितियों के संबंध में किया जाय, जिनकी रजिस्टरी हो चुकी हो।

सहकारिता का प्रचार और जाँच—ब्रिटिश भारत में, और देसी रियासतों में भी, सहकारी समितियों की संख्या क्रमशः बढ़ने लगी—ख़ासकर किसानों में इनका अधिक प्रचार हुआ। अब दिक़्क़त इनके खोलने में नहीं होती, वरन् इस बात में होती है कि ये मज़बूत बुनियाद पर खोली जायँ। सन् १९१४ ई० में सरकार ने सहकारिता-संबंधी सब विषयों की जाँच कराने का विचार किया, और सर एडवर्ड मेकलेगन के सभापतित्व में एक कमेटी क़ायम की। इस कमेटी ने, अपनी सन् १९१५ ई० की रिपोर्ट में, यह राय दी कि नई समितियाँ खोलते समय सदस्यों को सहकारिता के मुख्य सिद्धांत ध्यान में रखने चाहिए। हर्ष की बात है कि इन समितियों की उन्नति की ओर ध्यान दिया जा रहा है, और भिन्न-भिन्न प्रांतों में खेती के महकमे भी सहकारिता के सिद्धांतों के प्रचार में योग दे रहे हैं।

कुछ प्रांतों में प्रांतिक बैंक स्थापित हो गए हैं, जो सेंट्रल बैंकों की सहायता तथा नियंत्रण करते हैं। सेंट्रल बैंक का कार्य-क्षेत्र चाहे अधिक हो, परंतु उससे यही आशा की जाती है कि वह एक ज़िले या उसके किसी हिस्से की समितियों की धन से सहायता करेगा। उक्त बैंक और समितियों के बीच कहीं-कहीं 'गारंटी यूनियन' होता है। इनका नंबर बर्मा में अधिक है। ये अपनी सिफ़ारिश से समितियों को, सेंट्रल या केंद्रस्थ बैंक द्वारा, ऋण दिलाते हैं।

आगे दिए हुए नक़्शे से इन समितियों की, सन् १९०६-७ से सन् १९२०-२१ तक की, क्रमशः वृद्धि का ब्योरा मिलेगा।

समितियाँ	१९०६-७ से १९०९-१० तक का वार्षिक औसत			१९१५-१६ से १९१९-२० तक का वार्षिक औसत			सन् १९२०-२१ ई०		
	संख्या	सभासद	पूँजी	संख्या	सभासद	पूँजी	संख्या	सभासद	पूँजी
केंद्रस्थ, प्रांतिक और ज़िला-बैंक;	५७	१,९८७	६८,१२,००० रुपए	३०४	८९,९२५	१५,१८,४७,००० रुपए	४४९	१,४३,४८८	११,०७ लाख रु०
निरीक्षक और ऋण की गारंटी देनेवाले यूनियन				६३८	१०,९७१		१,१५०	१६,३२२	... ...
औद्योगिक	१६६	५४,२६७		१,६६२	२,२६,०३१		३,३२२	३,६०,५१३	३,६३ लाख रु०
कृषि-संबंधी	१,७१२	१,०७,६४३		२५,८७३	९,०२,९३०		४२,५८२	१३,९२,३९१	११,७२ लाख रु०
योग	१,९२९	१,६३,८९७		२८,४७७	१२,२९,८५७		४७,५०३	१९,१२,७१४	२६,४२ लाख रु०

क्या समितियाँ काफ़ी हैं ?—सहकारी समितियों का प्रधान उद्देश्य है भारतीय किसानों की क़र्ज़दारी दूर करना और उन्हें आर्थिक सहायता देना। यद्यपि उनकी संख्या में वृद्धि हो रही है, तथापि वे भारतवर्ष-भर की आवश्यकताओं की कहाँ तक पूर्ति करती हैं, यह विचारणीय है। सन् १९२०-२१ में इनके सभासदों की संख्या १६,१९,७१४ थी। यदि सहकारी समिति की सहायता सभासद के द्वारा उसके कुटुंब को भी मिलती हो, और एक कुटुंब में पाँच आदमियों का औसत माना जाय, तो कुल सहकारी समितियों द्वारा एक करोड़ से भी कम आदमियों का हित-साधन होता है। अतः भारतीय किसानों की संख्या देखते हुए अभी इन समितियों की संख्या बहुत कम है। देश के शुभचिंतकों को नई सहकारी समितियाँ खोलने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए।

चौथा परिच्छेद

बैंक

प्राक्कथन—बैंकों का काम उधार लेना, उधार देना तथा हुंडी-पुर्ज़े, चेक या नोट आदि ख़रीदना और बेचना है। जो लोग अपनी बचत का कुछ और उपयोग नहीं कर सकते, या नहीं करना चाहते, उनसे बैंक अपेक्षाकृत कम सूद पर रुपया उधार ले लेती है, और ऐसे आदमियों को कुछ अधिक सूद पर उधार दे देती है, जो उस धन से कोई लाभप्रद व्यवसाय चलाना चाहते हों।

महाजनी—आधुनिक बैंकों के खुलने से पहले यहाँ विशेषतया महाजनी का चलन था। बैंकिंग और महाजनी में अंतर केवल यही था कि बैंक औरों से सूद पर रुपया क़र्ज़ लेकर भी सूद पर उठाता है; पर महाजन क़र्ज़ नहीं लेते थे, वे अपने ही अथवा औरों

(ब्याज पर न रक्खे हुए) रुपए को सूद पर उठाते थे। इस प्रकार महाजन सूद लेते थे, पर देते नहीं थे। अब तो वे सूद देने भी लगे हैं।

यहाँ भिन्न-भिन्न जातियों के आदमी—विशेषतया मारवाड़ी, भाटिए, पारसी या दक्षिण-भारत के चेटी—लेन-देन करते हैं। महाजन लोग औरों का रुपया जमा करते हैं, हुंडी-पुर्ज़े का व्यवहार करते हैं, ज़ेवर गिरवी रखकर रुपया उधार देते हैं, और सोना-चाँदी या इन्हीं धातुओं की चीज़ें ख़रीदते हैं। हुंडियों का यहाँ पहले से ही ख़ूब चलन है। वे महाजनी या सर्राफ़ी-नामक एक विशेष लिपि में लिखी जाती हैं। शहरों में बैंकों के कारण महाजनी का काम यद्यपि कम हो गया है, किंतु छोटे क़स्बों और दिहातों में अब भी बहुत होता है। छोटे व्यापारियों या उत्पादकों की पहुँच बड़े-बड़े बैंकों तक नहीं होती। उन्हें महाजनों द्वारा देश के आंतरिक कारोबार में अच्छी सहायता मिलती है।

बैंकों में जमा करने के तरीक़े—हम पहले कह चुके हैं कि बैंक औरों का रुपया क़र्ज़ लेकर, अर्थात् जमा करके, क़र्ज़ देने का काम करते हैं। अब विचारणीय यह है कि वे रुपए किस प्रकार जमा करते हैं। एक तो रुपया चालू हिसाब में जमा किया जाता है। ऐसे रुपए पर बैंक सूद नहीं देते, या बहुत कम देते हैं; क्योंकि बैंकों को इसमें बहुत-सा रुपया हर वक़्त अपने पास तैयार रखना पड़ता है। वे इसे किसी स्थायी काम में नहीं लगा सकते। उन्हें शंका रहती है कि न-मालूम कब जमा करानेवाला अपने रुपए का कुल या कुछ हिस्सा वापस माँग बैठे। दूसरे रुपया किसी ख़ास मुद्दत के लिये (एक महीने, छः महीने, साल-भर या इससे भी अधिक समय के वास्ते) जमा किया जाता है। जितने अधिक समय के लिये रुपया जमा किया जाता है, सूद उतना ही अधिक मिलता है;

क्योंकि बैंकवाले उस रुपए से उतना ही अधिक लाभ उठा सकते हैं। जमा करनेवाले सब लोग अपना रुपया प्रायः एकसाथ ही वापस नहीं लेते; कुछ आदमी वापस लेते हैं, तो कुछ जमा भी करते हैं। अतएव बैंकवाले अपने अनुभव से यह जान लेते हैं कि उन्हें जमा करनेवालों को भुगतान करने के लिये कितना रुपया हर वक़्त तैयार रखने का प्रबंध करना चाहिए। शेष रुपया वे अपने उत्पादक कार्यों में लगाते हैं।

बैंक—बैंकों का कार्य पहले-पहल उन विदेशी व्यापारियों ने शुरू किया, जिनकी कलकत्ते में आढ़त की कोठियाँ थीं। वे भारत के बड़े-बड़े व्यापारियों, सरकारी नौकरों तथा खेती करनेवाले गोरों का सर्राफ़ी का काम भी करते थे। उन्होंने अपने नोट भी निकाले थे, जो उनके लिये बहुत लाभदायक थे। सन् १८१३ ई० से आढ़ती कोठियों के साथ-साथ सर्राफ़े के व्यापार का भी बहुत विस्तार हुआ, किंतु सन् १८२९-३० ई० के बड़े व्यापारिक संकट ने प्रायः इन सभी कोठियों को समाप्त कर दिया।

अब बैंकों की संख्या और काम बढ़ता जा रहा है। इनके ५ भेद हैं—

(१) इंपीरियल बैंक

(२) एक्सचेंज बैंक (ये भारतवर्ष तथा विदेशों में एक्सचेंज या विनिमय का कार्य करते हैं)

(३) सेविंग (Saving=बचत)-बैंक

(४) जॉइंट-स्टॉक या मिश्रित पूँजीवाले बैंक

(५) कोआपरेटिव या सहकारी बैंक

इंपीरियल बैंक: प्रेसिडेंसी बैंकों का एकीकरण*—ता० २७

* यह विषय पं० दयाशंकरजी दुबे के 'सरस्वती' में प्रकाशित एक लेख से लिया गया है।

जनवरी, सन् १९२१ ई० को बंगाल, बंबई और मदरास के प्रेसिडेंसी बैंकों के एकीकरण से भारतवर्ष में इंपीरियल बैंक की स्थापना हुई। इसका काम-काज और उपयोगिता समझने के लिये उक्त प्रेसिडेंसी बैंकों के संबंध में कुछ जान लेना चाहिए।

सन् १८०६ ई० में, कलकत्ते में, 'बैंक ऑफ् कलकत्ता'-नामक बैंक खोला गया। सन् १८०९ ई० में उसे चार्टर (अधिकार-पत्र) मिला, और उसका नाम 'बैंक ऑफ् बंगाल' रक्खा गया। सन् १९२० ई० में उसकी बंगाल, पंजाब और संयुक्त-प्रांत में २६ शाखाएँ थीं।

बंबई और मदरास के बैंक क्रमशः सन् १८४० ई० और सन् १८४३ ई० में स्थापित हुए। सन् १८६८ ई० में बंबई-बैंक को कपास के सट्टे में बहुत हानि उठानी पड़ी, और उसका दिवाला निकल गया। उसी वर्ष एक करोड़ की पूँजी से उसी नाम के दूसरे बैंक की स्थापना हुई। सन् १९२० ई० में मदरास-बैंक की २६ और बंबई-बैंक की १८ शाखाएँ थीं।

एकीकरण से पहले इन तीनों बैंकों की दशा इस प्रकार थी—

बैंक	रक़में लाख रुपयों में					
	पूँजी	रिज़र्व और बचत	सरकारी जमा	अन्य जमा	कुल जमा	नक़द रुपया
बंगाल-बैंक	२,००	२,१०	३,८८	३४,३९	३८,२७	१२,४४
बंबई-बैंक	१,००	१,२५	१,८७	२६,५०	२८,३७	९,८०
मदरास-बैंक	७५	४५	१,२४	१५,२९	१६,५३	४,५५
योग	३,७५	३,८०	६,९९	७६,१८	८३,१७	२६,७९

इंपीरियल बैंक का कुल मूल-धन सवा ११ करोड़ रुपया रक्खा गया है। प्रेसिडेंसी बैंकों की सब शाखाएँ, एकीकरण के पश्चात्, इंपीरियल बैंक की शाखाएँ हो गईं। इस बैंक को, अपने ऐक्ट के अनुसार, सन् १६२६ के पहले कम-से-कम १०० और नवीन शाखाएँ खोलनी पड़ेंगी; जिनमें से चौथाई भारत-सरकार के द्वारा निर्दिष्ट स्थानों में होंगी।

भारत के अन्य प्रकार के सब बैंकों में इन प्रेसिडेंसी बैंकों का स्थान सबसे ऊँचा रहता था; क्योंकि इनके पास सरकार का बहुत-सा रुपया जमा रहता था, और इन्हें जोखिम का काम करने की अनुमति नहीं थी। सन् १८६२ ई० तक इन्हें नोट निकालने का भी अधिकार रहा। इसके अतिरिक्त सन् १८७६ ई० तक भारत-सरकार इन बैंकों की साझीदार थी, उसने इनके शेयर ख़रीदे थे, और इनके डाइरेक्टरों के चुनाव में भी वह भाग लेती थी। आवश्यकता पड़ने पर बंबई-बैंक से काफ़ी रुपया न मिलने पर सरकार को, सन् १८७६ ई० में, अपनी नीति बदलनी पड़ी। उस वर्ष से सरकार ने इन तीनों बैंकों के पास कम-से-कम एक निश्चित परिमाण तक अपना रुपया बिना ब्याज जमा रखने, और यदि उससे कम रुपया जमा हो, तो जितना कम हो, उस पर ब्याज देने, की ज़िम्मेदारी ली। बदले में इन बैंकों को सरकार के कई काम करने पड़ते थे। सरकारी ऋण-संबंधी सब हिसाब भी ये ही रखते थे। जिन शहरों में इनकी शाखाएँ थीं, वहाँ सरकारी लेन-देन भी इन्हीं के द्वारा होता था, अलग सरकारी ख़ज़ाना नहीं रहता था। अब इंपीरियल बैंक को भी सरकार के ये सब काम करने पड़ते हैं।

सरकारी कोष—सन् १८७६ ई० में सरकार ने प्रेसिडेंसी-बैंकों के अपने शेयर बेच डाले, और कलकत्ता, बंबई और मदरास में बड़े-बड़े बचत के ख़ज़ाने (Reserve Treasuries) खोले। इन्हीं में उसका बचत का रुपया रक्खा जाने लगा। सन् १६१२-१३

में इनमें १०,७१ लाख रुपए जमा थे। परंतु पीछे सन् १९१९-२० ई० में यह रक़म घटते-घटते केवल १,४६ लाख ही रह गई।

प्रेसिडेंसी-बैंकों में पहले सरकारी बचत का थोड़ा ही भाग रहता था, परंतु एकीकरण से पूर्व के तीन वर्षों में बचत का अधिकांश भाग इनमें जमा रहा। तो भी औसत से नौ-दस करोड़ की रक़म सरकारी (बचत के तथा अन्य) ख़ज़ानों में ही जमा रही।

भारत कृषि-प्रधान देश है, और यहाँ के निर्यात का अधिकांश भाग कच्चा माल है। अतएव निर्यात का व्यापार वर्ष के ख़ास-ख़ास महीनों में, ख़ास-ख़ास स्थलों में, तेज हो जाता है। उसके बाद वह मद्दा पड़ जाता है। व्यापार की तेज़ी के समय व्यापारियों और रोज़गारियों को द्रव्य की बहुत आवश्यकता होती है, और वे बैंकों से रुपया उधार माँगते हैं। अतएव उन दिनों प्रेसिडेंसी-बैंकों में रुपया कम हो जाता था। अतः वे अपने बैंक-रेट को, अर्थात् अपनी सूद की दर को, बढ़ा देते थे। ठीक उन्हीं दिनों सरकारी ख़ज़ानों में रुपया बहुत भरा रहता था। कारण, तब मालगुज़ारी वसूल की जाती थी। यह रुपया अंत को रिज़र्व-ट्रेज़रियों में पहुँचकर व्यर्थ पड़ा रहता था। अब ये रिज़र्व-ट्रेज़रियाँ टूट गई हैं, और सब सरकारी रुपया इंपीरियल बैंक में ही रक्खा जाता है। इस तरह यह बैंक, व्यापार की तेज़ी के समय, उन रुपयों को भी उपयोग में ला सकता है, और बैंक-रेट में भी पहले के समान अधिक बढ़ती नहीं होती।

इंपीरियल बैंक का कार्य-क्षेत्र—तीनों प्रेसिडेंसी-बैंकों को, सन् १८७६ ई० से, कुछ सरकारी नियमों का पालन करना पड़ता था। उनमें से मुख्य-मुख्य ये थे—

(क) इन्हें हिंदुस्थान से बाहर किसी भी प्रकार का कारोबार करने का अधिकार नहीं था।

(ख) ये छः महीने से अधिक समय के लिये क़र्ज़ नहीं दे सकते थे।

(ग) ये बिना दो प्रतिष्ठित सज्जनों के हस्ताक्षर के किसी की हुंडी नहीं ले सकते थे।

(घ) ये अपना रुपया ब्रिटिश और भारत-सरकार की सिक्युरिटियों, रेलवे के शेयरों और यहाँ की म्युनिसिपैलिटियों तथा पोर्टट्रस्टों के डिबेंचरों में ही लगा सकते थे, और इन्हीं सबकी ज़मानत पर रुपया उधार दे सकते थे।

(च) ज़मीन और अचल संपत्ति की ज़मानत पर रुपया उधार देने की उन्हें अनुमति नहीं थी।

(छ) सोना-चाँदी ख़रीदने और बेचने की उन्हें पूरी स्वतंत्रता थी।

इंपीरियल बैंक का कार्य-क्षेत्र भी बहुत-कुछ वैसा ही निर्द्धारित किया गया है। मुख्य अंतर यह है कि इंपीरियल बैंक को लंदन में भी एक शाखा खोलने की अनुमति दी गई है, और वह गवर्नर जनरल के आदेशानुसार ऐसी हुंडियों को भी ख़रीद, बेच और सकार सकती है, जो भारत से बाहर अदा की जानेवाली हों। लंदन की शाखा द्वारा यह बैंक उन्हीं व्यक्तियों से लेन-देन कर सकता है, जो गत तीन वर्षों से, भारत में, उसके साथ लेन-देन करते रहे हों। पूर्वोक्त बंधनों के कारण प्रेसिडेंसी-बैंकों की आर्थिक दशा सदैव अच्छी रही, और वे १२) से १८) सैकड़ा तक मुनाफ़ा बाँटते रहे। उनका ५००) का शेयर १,२००) से १,८००) तक बिकता था। आशा है, इंपीरियल बैंक की दशा भी ऐसी ही संतोष-प्रद रहेगी।

बैलेंस-शीट—क़ानून के अनुसार इंपीरियल बैंक अपना बैलेंस-शीट महीने में दो बार प्रकाशित करता है। ता० ९ मई, १९२४ ई० का बैलेंस-शीट, 'कैपिटल' से लेकर, आगे दिया जाता है। इससे उसकी आर्थिक दशा का पता लग जायगा—

पूँजी और देनी		नक़द माल और लेनी	
पूँजी, जिसके शेयर बिक चुके हैं	११,२५,००,०००रु०	सरकारी सिक्युरिटियाँ	१०,६८,८७,०००रु०
		अन्य सिक्युरिटियाँ	१,२१,६४,०००रु०
पूँजी, जो वसूल की जा चुकी है	५,६२,५०,००० रु०	उधार दिया	२५,२५,०१,०००रु०
		देशी हुंडियाँ, जो सकारकर ख़रीदी गईं	१४,८०,२४,०००रु०
रिज़र्व (बचत)	४,४५,००,०००रु०	विदेशी हुंडियाँ, जो सकारकर ख़रीदी गईं	३२,७७,००० रु०
सरकारी जमा	१७,६६,६७,०००रु०	सोना-चाँदी	...
अन्य जमा	७२,२८,४७,०००रु०	इमारतें, सामान आदि	२,२३,६४,०००रु०
उधार (सरकार से)	१०,००,००,०००रु०	अन्य बैंकों के पास जमा	१,४६,२६,००० रु०
फुटकर	१,८२,८८,०००रु०	नक़द लेनी	४०,२०,१७,०००रु०
		फुटकर	६७,६२,००० रु०
		योग	६७,२०,२५,०००रु०
		नक़द	१४,६८,२७,०००रु०
कुल योग	१,११,८८,८२,०००रु०	कुल योग	१,११,८८,८२,०००रु०

इस हिसाब में लंदन का यह लेन-देन भी शामिल है—

अमानत जमा १३,८६,८०० पौंड

उधारी ४,२७,६०० पौंड

बैंकों में जमा ६,६२,७०० पौंड

जमा करनेवालों को, माँगने पर, रुपया वापस देने की बैंक ज़िम्मेदारी लेता है, इसलिये यह बहुत आवश्यक है कि उसके पास पर्याप्त परिमाण में नक़द रुपया हमेशा बना रहे । प्रत्येक बैंक के पास कुल जमा का कम-से-कम पाँचवाँ हिस्सा, अर्थात् २० प्रतिशत, नक़द रहना आवश्यक है । उक्त बैलेंस-शीट से मालूम होता है कि उस दिन सरकारी और अन्य व्यक्तियों की कुल जमा १,०१,८१,३२,००० रु० थी, और बैंक के पास नक़द १४,६८,९७,००० रु० था । यह नक़द कुल जमा का १४·४२ फ़ी-सदी होता है ।

संगठन—तीनों प्रेसिडेंसी-बैंकों के डाइरेक्टरों के बोर्ड अब इंपीरियल बैंक के तीन स्थानीय बोर्डों में परिणत हो गए हैं । इंपीरियल बैंक के कार्य को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिये एक 'सेंट्रल बोर्ड' की स्थापना हुई है । इसका दफ़्तर किसी ख़ास जगह पर नहीं रहता । इसके अधिवेशन बारी-बारी के कलकत्ता, बंबई और मदरास में होते हैं । बोर्ड के कुल १६ सभासद हैं । उनमें से कंट्रोलर ऑफ़ करेंसी और तीनों स्थानीय बोर्डों के सेक्रेटरियों को मत देने का अधिकार नहीं है । शेष बारह में से ६ सभासद् तो तीनों स्थानीय बोर्डों के सभापति और उपसभापति हैं, ४ सरकार द्वारा नियुक्त होते हैं, और दो मैनेजिंग गवर्नर रहते हैं, जिन्हें, सेंट्रल बोर्ड की सिफ़ारिश पर, भारत-सरकार ही नियुक्त करती है ।

इंपीरियल बैंक के संगठन में कई सुधारों की आवश्यकता है । मितव्यय के विचार से इस बैंक का संगठन ऐसा होना चाहिए

कि वह भारत-सरकार के लिये वे काम कर सके, जो इँगलैंड का बैंक ब्रिटिश सरकार के लिये करता है। करेंसी-नोटों का छापना, सिक्कों के लिये चाँदी ख़रीदना आदि भारत-सरकार के वे काम, जो इँगलैंड का बैंक ठेके पर करता है, इस इंपीरियल बैंक को ही सौंपा जाना चाहिए। इस व्यवस्था से करेंसी-नियंत्रक (कंट्रोलर) का व्यर्थ का पद हटाया जा सकता है।

एक्सचेंज-बैंक—ये साठ वर्ष के पुराने बड़े-बड़े योरपियन बैंक हैं, और भारतवर्ष तथा एशिया के अन्य देशों में कारोबार करते हैं। इनकी कुल संख्या अब १५ है। सुबीते के लिये इनके दो भेद किए जाते हैं—(क) वे पाँच बैंक, जो अपना अधिकांश कारोबार इस देश में ही करते हैं। (ख) वे दस बैंक, जो बड़े बैंकिंग कारपोरेशनों की एजंसियाँ-मात्र हैं, और तमाम दुनिया में अपना कारोबार करते हैं। सन् १९२० ई० के अंत में इनका हिसाब इस प्रकार था—

ब्योरा	पहले प्रकार के पाँचों बैंक	दूसरे प्रकार के दसों बैंक	कुल पंद्रहों बैंक
प्राप्त पूँजी	७६·९	४,६५·०	५,४१·९ लाख पौंड
रिज़र्व (बचत)	८४·५	२,७५·६	३,६०·१ लाख पौंड
भारत से बाहर जमा	७,९५·१	४३,४१·६	५१,३६·७ लाख पौंड
भारत में जमा	६,४६·३	१,०१·७	७,४८·० लाख रुपए
भारत से बाहर रोकड़ बाक़ी	१,६४·४	९,४७·५	११,११·९ लाख पौंड
भारत में रोकड़ बाक़ी	१,९३·९	५८·९	२,५२·८ लाख रुपए

ये बैंक विदेशी व्यापार को सहायता पहुँचाते हैं, भारतवर्ष के निर्यात-कर्ताओं से हुंडियाँ ख़रीदते हैं, और ब्याज काटकर उनका रुपया विलायती बैंकों से, अथवा समय पूरा होने पर स्वयं उन व्यापारियों से, ले लेते हैं। ये अपने लंदन के कार्यालयों द्वारा इँगलैंड के निर्यात-कर्ताओं की हुंडियाँ भी मोल लेते हैं। इस प्रकार ये भारतवर्ष के आयात-व्यापार में भी भाग लेते हैं। निर्यात-व्यापार पर तो इनका आधिपत्य-सा है। इन बैंकों द्वारा यहाँ ख़रीदी गई हुंडियों का रुपया इँगलैंड में, और इँगलैंड में ख़रीदी हुई हुंडियों का रुपया यहाँ, मिल जाता है। कभी-कभी जल्दी के लिये तार द्वारा भी काम किया जाता है। इसे 'टेलिग्राफ़िक ट्रांसफ़र' (Telegraphic Transfer) कहते हैं।

मिश्रित पूँजीवाले बैंक—भारतवर्ष में जॉइंट स्टॉक (Joint stock) या मिश्रित पूँजीवाले बैंकों की वृद्धि विशेषतया पिछले पंद्रह वर्षों ही में अधिक हुई है। सन् १९०५ ई० से यहाँ इनकी, औद्योगिक कार्यों की ओर विशेष ध्यान दिए जाने के कारण, अच्छी उन्नति होने लगी है। इन्होंने साल-भर या अधिक समय के लिये जमा की हुई रक़मों पर ५-६ फ़ी-सदी सूद देना स्वीकार किया, इसलिये मध्य श्रेणी के जो आदमी अपनी बचत का रुपया सेविंग-बैंकों में जमा करते थे, उनका ध्यान उसे इन बैंकों में जमा करने की ओर आकृष्ट हुआ।

इन बैंकों का दिवाला—सन् १९१३ ई० में इन बैंकों में से बहुतों का दिवाला निकल गया। इससे अनेक आदमियों पर बड़ी विपत्ति पड़ी, और कुछ समय के लिये, जनता का बैंकों पर से विश्वास उठ जाने के कारण, इनकी उन्नति रुक गई।

इन बैंकों के फ़ेल हो जाने के मुख्य कारण ये थे—

(१) बहुत-से बैंकों के डाइरेक्टर बैंक-कार्य से अनभिज्ञ थे, और इसलिये उनकी यथेष्ट देख-भाल नहीं कर सकते थे।

(२) कुछ डाइरेक्टर बहुत चालाक थे, और अपना मतलब साधने में लगे हुए थे।

(३) हिसाब-किताब ठीक नहीं रक्खा गया, और सुरक्षा का विचार किए बिना ही ऋण दिया गया। प्रेसिडेंसी-बैंक अपनी देन-दारी का ३३ फ़ी-सदी धन नक़द जमा रखते थे, और एक्सचेंज-बैंक २० फ़ी-सदी ; परंतु इन मिश्रित पूँजीवाले बैंकों ने १५-१६ फ़ी-सदी से अधिक जमा नहीं रक्खा।

(४) बैंकों का बहुत-सा धन ऐसे कामों में लगा दिया गया, जहाँ से वह समय पर, सुगमता से, नहीं मिल सकता था।

(५) कुछ मैनेजर सट्टे-फाटके में लग गए, या उन्होंने लोगों से ऊँचे ब्याज पर रुपया लेकर उसे ऐसी संस्थाओं की सहायता में लगा दिया, जिनका लाभ संदिग्ध था।

(६) मूल-धन में से शेयर-होल्डरों को डिविडेंड दिए गए, और हिसाब में गड़बड़ी करके इस बात को छिपाया गया।

(७) योरपियन बैंक इन बैंकों से ईर्षा करते थे। उनका भी इनके फ़ेल होने में हाथ था।

(८) सरकार ने संकट के समय योरपियन बैंकों की सहायता की, परंतु जब देशी बैंकों की सहायता का प्रश्न आया, तो वह किसी-न-किसी बहाने से अलग बैठी रही।

बैंकों के फ़ेल होने से लाभ भी हुआ। जनता को इनकी सच्ची हालत मालूम हो गई। इन बैंकों के प्रबंध, हिसाब, कार्यकर्ताओं की कुशलता तथा निरीक्षण आदि की त्रुटियों पर प्रकाश पड़ गया। बहुत-सी कंपनियों ने बड़े-बड़े नाम तो रख लिए थे, पर उनकी दशा आरंभ से ही ख़राब थी। उनके पास पूँजी तो कम थी, किंतु काम

वे खूब बढ़-चढ़कर करती थीं। उनके दिवाले निकलने के बाद अब क्रमशः इन बातों में सुधार हुआ है।

नया क़ानून—पहले बैंकों की रजिस्ट्री सन् १८८३ ई० के ऐक्ट के अनुसार होती थी। दिवालिए बैंकों का अनुचित व्यवहार देखकर सरकार ने वह ऐक्ट रद कर दिया, और सन् १९१३ ई० का नया इंडियन कंपनीज़ ऐक्ट बनाया। इसकी कुछ मुख्य बातें ये हैं—

(१) पुरानी कंपनियों को भी इस ऐक्ट की पाबंदी करनी होगी।

(२) रजिस्ट्री कराने के पहले संस्थापक हिस्सेदारों और डाइरेक्टरों की सूची रजिस्ट्रार को देनी होगी।

(३) यदि कंपनी किसी पत्र में अपनी कुल पूँजी का विज्ञापन दे, तो उसके साथ यह भी दिखाना होगा कि कितनी पूँजी के हिस्से बिके, और उनसे कितना रुपया मिला।

(४) जितनी पूँजी के हिस्से बिकने पर काम करने का विचार किया गया हो, उतने हिस्से जब बिक जायँ, और डाइरेक्टर भी अपने हिस्सों का कुल रुपया अन्य लोगों की भाँति दे दें, तब काम शुरू हो।

(५) हिस्सेदारों के नाम और उन्हें दिए हुए हिस्सों का लेखा रजिस्ट्रार को भेजा जाता रहे।

(६) बैंकों के बैलेंस-शीट पर हिसाब जाँचनेवाले के अतिरिक्त मैनेजर और तीन डाइरेक्टरों के भी हस्ताक्षर हों।

(७) बैंक साल में दो बार हिसाब बनाकर अपने रजिस्टर्ड ऑफ़िस में ऐसी जगह टाँगे, जहाँ सब आदमी उसे देख सकें।

(८) कंपनी का हिसाब जाँचनेवाला वही हो, जिसके पास सरकार की दी हुई हिसाब जाँचने की सनद हो।

मुख्य बैंकों के नाम—इस समय मिश्रित पूँजीवाले मुख्य-मुख्य बैंक ये हैं—[1]

(१) इलाहाबाद-बैंक (यह अब इँगलैंड की पी० ऐंड ओ० बैंकिंग-कारपोरेशन में सम्मिलित हो गया है)

(२) बैंक ऑफ़ इंडिया, बंबई

(३) पंजाब नैशनल बैंक, लाहौर

(४) सेंट्रल बैंक ऑफ़ इंडिया, बंबई (इसमें हाल में टाटा-इंडसट्रियल बैंक सम्मिलित हो गया है)

(५) बनारस-बैंक

(६) बंगाल नैशनल बैंक, कलकत्ता

(७) इंडियन बैंक, मद्रास

(८) बैंक ऑफ़ मैसूर, बंगलोर

वर्तमान बैंकों के अंक—सन् १९१९ ई० के अंत में भारतवर्ष में ६५ बैंक थे। इनकी २३० शाखाएँ प्रायः पश्चिमोत्तर-भारत में—ख़ासकर पंजाब और संयुक्त-प्रांत में—फैली हुई थीं। आगे केवल उन ४७ बैंकों का हिसाब दिया जाता है, जिनकी प्राप्त पूँजी और बचत कम-से-कम एक लाख रुपए थी। इनकी २२४ शाखाएँ थीं। इन बैंकों के दो भेद किए जा सकते हैं—

(१) जिनकी प्राप्त पूँजी और बचत एक लाख और पाँच लाख रुपए के बीच में है।

(२) जिनकी प्राप्त पूँजी और बचत पाँच लाख या अधिक रुपए है।

महायुद्ध से पहले (सन् १९१३) का, महायुद्ध के समय (सन् १९१६) का और महायुद्ध की समाप्ति के बाद (सन् १९१९) का इन बैंकों का तुलनात्मक हिसाब इस प्रकार है—

सन्	पहले भेद के बैंक				दूसरे भेद के बैंक			
	संख्या	पूँजी और बचत लाख रु०	जमा लाख रुपए	नक़द लाख रुपए	संख्या	पूँजी और बचत लाख रु०	जमा लाख रु०	नक़द लाख रु०
१९१३	१८	३,६४	२२,५९	४,००	२३	५०	१,५१	२५
१९१६	२०	४,६१	२४,७१	६,०३	२५	५५	९१	२०
१९१९	१८	७,६३	५८,९९	१२,१७	२९	७५	२,२८	५४

एलायंस बैंक का दिवाला—यह एक बड़ा बैंक था। सन् १९२३ के मई मास में इसका दिवाला निकल गया। इसका मूल-धन लगभग १ करोड़ था। इसके रिज़र्व-फ़ंड में ५० लाख रुपया था, और जन-साधारण की जमा लगभग ९ करोड़ थी। यह एक बहुत पुराना बैंक था। इसका दिवाला निकल जाने से बहुत-से आदमियों को—ख़ासकर अँगरेज़ों को—बहुत नुक़सान हुआ।

इस बैंक के फ़ेल होने का प्रभाव बहुत बुरा न पड़े, इस विचार से सरकार ने इसमें जमा करनेवालों को उनकी जमा का आधा रुपया इंपीरियल बैंक द्वारा दिलाने की व्यवस्था की। यदि १९१३ में भी सरकार अन्य बैंकों की यथेष्ट सहायता करती, तो उनके फ़ेल होने की संभावना न होती, और देश एक बड़े आर्थिक संकट से बच जाता।

इस बैंक के फ़ेल होने के कारणों की जाँच करने के लिये एक कमेटी नियत की गई है। उसकी रिपोर्ट अभी प्रकाशित नहीं हुई है। परंतु जान पड़ता है कि इसके फ़ेल होने का प्रधान

कारण लंडन की बोल्टन ब्रादर्स ऐंड को-नामक कंपनी का फ़ेल होना है, जिसमें इस बैंक का लगभग १॥ करोड़ रुपया लगा हुआ था। इस बैंक की कुछ शाखाओं का प्रबंध भी ख़राब था।

गत वर्ष लखनऊ में भी नैशनल बैंक ऑफ़् अपर इंडिया और बैंक ऑफ़् अवध लिमिटेड का दिवाला निकल गया। इनके फ़ेल होने का प्रधान कारण कार्यकर्ताओं की बेईमानी कही जाती है। यदि यह ठीक है, तो बड़े ही शोक की बात है।

सेविंग-बैंक—प्रेसिडेंसी नगरों में सरकारी सेविंग-बैंक सन् १८३३ ई० और सन् १८३५ ई० के बीच में स्थापित हुए। सन् १८७० ई० में कुछ चुने हुए ज़िला-सेविंग-बैंक खोले गए। डाक-ख़ाने के सेविंग-बैंक सन् १८८२ ई० और सन् १८८३ ई० में, भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न स्थानों में, खोले गए। तब से ये ही सरकारी सेविंग-बैंकों का काम करने लगे। सन् १८८६ ई० में इनमें ज़िला-सेविंग-बैंकों का हिसाब मिला दिया गया। सन् १८९६ ई० में प्रेसिडेंसी-सेविंग-बैंकों का काम भी इन्हीं में मिल गया।

इन बैंकों के संबंध में कुछ ज्ञातव्य अंक नीचे दिए जाते हैं—

वर्ष	जमा करने-वालों की संख्या	जमा की रक़म सूद-सहित (हज़ार रुपयों में)	वापस ली हुई रक़म (हज़ार रुपयों में)	सूद-सहित रोकड़ बाक़ी (हज़ार रुपयों में)
१९००-०१	८,१६	३,९०,६५	३,५०,९७	१०,०४,३३
१९११-१२	१५,०१	८,७८,७०	६,८०,७२	१८,८९,८५
१९१३-१४	१६,३९	११,६०,३७	९,०४,७६	२३,१६,७५
१९१४-१५	१६,४४	९,६०,६२	१७,८८,११	१४,८९,२९
१९१८-१९	१६,७७	१३,४५,१५	११,२१,१७	१८,८२,७४
१९१९-२०	१७,६०	१७,७४,५१	१५,२२,११	२१,३४,३५

सन् १६१३ ई० में बहुत-से मिश्रित पूँजीवाले बैंकों के फ़ेल हो जाने से उनका बहुत-सा रुपया इन सेविंग-बैंकों में खिंच आया। सरकार ने भी इनमें जमा करनेवालों को कुछ विशेष सुविधाएँ दीं। इससे इन बैंकों की जमा की रक़म उस वर्ष २३ करोड़ हो गई। युद्ध-काल में बहुत-से आदमियों ने अपना रुपया वापस ले लिया, और वह सब सरकारी बचत के रुपए में से दिया गया।

डाकख़ानों में जमा होनेवाली रक़म में जो वृद्धि हो रही थी, वह युद्ध-काल में रुक गई। परंतु वह केवल अस्थायी रूप से ही रुकी। यदि सूद-सहित रोकड़ बाक़ी युद्ध के पूर्व की रक़म के बराबर नहीं हो पाई है, तो इसका कारण यह है कि लोगों ने युद्ध-ऋण में बहुत-सा रुपया लगा दिया है, और उन्हें गवर्न्मेंट की सिक्युरिटियों पर अधिक सूद मिलता है।

सहकारी या को-आपरेटिव-बैंक—ये बैंक उधार तो सबसे ले सकते हैं, परंतु सहकारी समितियों के सिवा और किसी को उधार दे नहीं सकते। सहकारी समितियों का वर्णन अन्यत्र किया गया है।

सहकारी बैंकों के दो भेद हैं, प्रांतिक और सेंट्रल। ब्रिटिश भारत में प्रांतिक बैंक केवल मदरास, बंबई, बंगाल, बिहार-उड़ीसा, बर्मा, मध्य-प्रांत और बरार में हैं। देशी रियासतों में केवल मैसूर में एक प्रांतिक बैंक है। ये बैंक सेंट्रल बैंकों की सहायता तथा उनका नियंत्रण करते हैं।

सेंट्रल बैंक एक ज़िले या उसके किसी हिस्से की सहकारी समितियों की सहायता करते हैं। ये ब्रिटिश भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतों में इस प्रकार हैं—मदरास ३२, बंबई १७, बंगाल ७१, बिहार-उड़ीसा ४१, संयुक्त-प्रांत ६८, पंजाब ६८, बर्मा ११, मध्य-प्रांत और

बरार ३४, आसाम १५, अजमेर ६, दिल्ली १। देशी रियासतों की संख्याएँ इस प्रकार हैं—मैसूर १८, बड़ौदा ४, हैदराबाद ११, भोपाल १५।

सहकारी बैंकों का प्रबंध प्रायः स्थानीय आदमी ही करते हैं। वे अपनी सेवाओं के लिये कुछ नहीं लेते। इन बैंकों की आय पर सरकार कोई टैक्स आदि नहीं लेती। यदि कोई किसान किसी सहकारी बैंक का ऋण अदा न कर सके, तो सरकारी लगान दे चुकने पर बैंक का अधिकार किसान की जायदाद पर अन्य सब लेनदारों से पहले होता है।

इन बैंकों से निम्न-लिखित कई लाभ हैं—

(१) ये ग़रीब किसानों को कम सूद पर आवश्यक पूँजी दे सकते हैं।

(२) ये बैंक केवल उत्पादक कार्यों के लिये ही उधार देते हैं, इसलिये इनसे धन लेकर किसान लोग फ़िज़ूल-ख़र्ची नहीं कर सकते।

(३) नालिश और दीवानी मुक़द्दमों में ख़र्च किए जानेवाले देश के लाखों रुपयों की प्रतिवर्ष बचत हो सकती है।

(४) सरकारी नौकरों, शिल्पकारों, किसानों और मज़दूरों की बचत इन बैंकों में रक्खी जा सकती है। इनमें ब्याज अधिक मिलता है, और धन के खो जाने का भय कम होता है।

(५) इन बैंकों से जन-साधारण में पारस्परिक विश्वास और सहायता के भावों की वृद्धि के साथ-ही-साथ दूरदर्शिता और मितव्ययिता आदि गुणों का भी विकास होता है।

(६) इन बैंकों से कृषि, शिल्प, पुस्तकालयों, पाठशालाओं, सफ़ाई, अच्छे मकानों और सुंदर पशुओं की उन्नति और वृद्धि हो सकती है।

भारतवर्ष की बैंक-संबंधी आवश्यकताएँ—भारतवर्ष में बैंकों की आवश्यकता दिन-दिन बढ़ती जा रही है। अपनी बचत का रुपया महाजनों के पास अथवा मिश्रित पूँजीवाले एवं अन्य बैंकों में जमा करने की रुचि लोगों में बढ़ रही है। कृषि और शिल्प के उत्थान के लिये इनके विशेष बैंकों की बड़ी ज़रूरत है। भारत के बैंक पाश्चात्य देशों की तुलना में बहुत क्षुद्र-से प्रतीत होते हैं। इँगलैंड के कई बैंक तो ऐसे हैं कि उनमें से किसी एक की पूँजी यहाँ के कुल बैंकों की एकत्रित पूँजी से दुगनी-तिगनी है। इँगलैंड के बैंकों में प्रत्येक आदमी की औसत जमा लगभग ४००) है। यहाँ के बैंकों में यह रक़म ४) से अधिक नहीं है।

भारतवर्षीय हिंदी-अर्थ-शास्त्र-परिषद्

(सन् १९२३ में संस्थापित)

सभापति—श्रीमान् पंडित गोकरणनाथजी मिश्र एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, ऐडवोकेट, लखनऊ

उप-सभापति—डॉक्टर राधाकमल मुकर्जी एम्०ए०, पी-एच्०डी०, अर्थ-शास्त्र-अध्यापक, लखनऊ-विश्वविद्यालय, लखनऊ और पंडित हरकरणनाथजी मिश्र एम्०एल्०ए०, लखनऊ

कोषाध्यक्ष—श्रीयुत भूपेंद्रनाथजी चटर्जी एम्०ए०, एल्-एल्० बी०, अर्थ-शास्त्र-अध्यापक, लखनऊ-विश्वविद्यालय, लखनऊ

मंत्री—श्रीयुत पंडित दयाशंकरजी दुबे एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, कॉमर्स-विभाग लखनऊ-विश्वविद्यालय, लखनऊ और श्रीयुत जयदेवजी गुप्त बी० काम०, एस्० एम्० कॉलेज, चँदौसी

संपादन-समिति के सदस्य—श्रीदुलारेलाल भार्गव (माधुरी और गंगा-पुस्तकमाला-संपादक) और श्रीदयाशंकर दुबे (अर्थ-शास्त्र-अध्यापक, लखनऊ-विश्वविद्यालय, लखनऊ)

इस परिषद् का उद्देश्य है जनता में हिंदी द्वारा अर्थ-शास्त्र का ज्ञान फैलाना और उसका साहित्य बढ़ाना।

कोई भी सज्जन १) प्रवेश-शुल्क देकर परिषद् का सदस्य हो सकता है। जो सज्जन कम-से-कम एक सौ रुपए की आर्थिक सहायता परिषद् को देते हैं, वे उसके संरक्षक समझे जाते हैं। प्रत्येक सदस्य और संरक्षक को परिषद् द्वारा प्रकाशित अथवा संपादित पुस्तकें पौने मूल्य में दी जाती हैं।

परिषद् की संपादन-समिति द्वारा निम्न-लिखित पुस्तकें संपादित हो चुकी हैं—

(१) भारतीय अर्थ-शास्त्र

(२) भारत के उद्योग-धंधे

(३) विदेशी विनिमय

हिंदी में अर्थ-शास्त्र-संबंधी साहित्य की कितनी कमी है, यह किसी भी साहित्य-प्रेमी सज्जन से छिपा नहीं। देश के उत्थान के लिये इस साहित्य की वृद्धि का शीघ्र होना अत्यंत आवश्यक है। प्रत्येक देश-प्रेमी सज्जन से हमारी प्रार्थना है कि वह इस परिषद् के संरक्षक या सदस्य होकर हम लोगों को सहायता देने की कृपा करें। आर्थिक विषय के लेखकों को सब प्रकार की सहायता पहुँचाने का प्रबंध परिषद् द्वारा किया जा रहा है। जिन महाशयों ने इस विषय पर कोई लेख या पुस्तक लिखी हो, वे उसे मंत्री के पास नीचे-लिखे पते पर भेज दें। लेख या पुस्तक परिषद् द्वारा स्वीकृत होने पर संपादन-समिति द्वारा विना मूल्य संपादित की जाती है। आर्थिक कठिनाइयों के कारण परिषद् अभी कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं कर पाया है, परंतु वह प्रत्येक लेख या पुस्तक को सुयोग्य प्रकाशक द्वारा प्रकाशित कराने का पूर्ण प्रयत्न करता है। जो महाशय आर्थिक विषय पर लेख या पुस्तक लिखने में परिषद् से किसी प्रकार की सहायता चाहते हों, वे नीचे-लिखे पते से पत्र-व्यहार करें।

६, गंगनीसुकुल-तालाब
लखनऊ

दयाशंकर दुबे
मंत्री

हिंदी-प्रेमियों से

आवश्यक अपील

माननीय महाशय,

हमारी गंगा-पुस्तकमाला को राष्ट्रभाषा हिंदी की सफलता-पूर्वक सेवा करते हुए आज ६-७ वर्ष हो चुके हैं। आप-जैसे गुण-ग्राहकों ने इसकी खूब ही क़द्र की है। इसका ज्वलंत प्रमाण यह है कि जितने स्थायी ग्राहक इस माला के हैं, उतने आँज तक किसी भी माला के नहीं हुए। इसकी ग्राहक-संख्या २,००० के ऊपर पहुँच चुकी है, तो भी अभी इसके और अधिक प्रचार की ज़रूरत है— सुचारु रूप से 'माला' को चलाते रहने के लिये हमें कम-से-कम २,००० ही स्थायी ग्राहक और चाहिए। यदि हिंदी-हितैषी, गुणज्ञ, सहृदय सज्जन ज़रा-सी कोशिश करें, तो उनके लिये गंगा-पुस्तकमाला के २,००० स्थायी ग्राहक और जुटा देना कुछ कठिन काम नहीं। हमारी 'माधुरी' के तो वे १०,००० से भी ऊपर ग्राहक बना चुके हैं। अतएव कृपया आप स्वयं स्थायी ग्राहक बनें, और अपने इष्ट-मित्रों को भी आग्रह-पूर्वक बनावें। इस "निवेदन" के साथ लगा हुआ "प्रार्थना-पत्र" भरकर भेजें और भिजवाएँ। आपकी यह ज़रा-सी सहायता हमारे सभी मनोरथ सिद्ध कर देगी, और इसके लिये हम आपके सदा कृतज्ञ रहेंगे।

अस्तु। हमने तो अपना कर्तव्य पालन कर दिया। अब देखें, हमारे इस "नम्र निवेदन" का आपके ऊपर भी कुछ असर होता है या नहीं। हम उत्सुकता के साथ आपकी सहायता की प्रतीक्षा कर रहे हैं। आइए-आइए, हिंदी-माता की सेवा में हमारा हाथ बँटाइए, और इस प्रकार स्वयं भी पुण्य-लाभ कीजिए।

निवेदक—

संचालक गंगा-पुस्तकमाला, लखनऊ